# शुक्ल-समीक्षा

लेखक

टेकचन्द शर्मा एम. ए.
(हिन्दी तथा संस्कृत)
हिन्दी-संस्कृत विभाग
द्वावा कालिज, जालन्धर।

कँवर सेन शर्मा एम. ए.
(हिन्दी)
पूर्व-प्राध्यापक, द्वावा कालिज,
जालन्धर।

एस. चन्द एण्ड कम्पनी
नई दिल्ली, जालन्धर, लखनऊ, बम्बई

एस. चन्द एण्ड कम्पनी

| | |
|---|---|
| राम नगर | नई दिल्ली |
| फव्वारा | दिल्ली |
| माई हीरां गेट | जालन्धर |
| लाल बाग़ | लखनऊ |
| लैमिंग्टन रोड | बम्बई |

मूल्य : 3.50 न. पं.
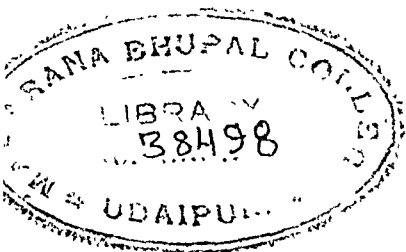
श्यामलाल गुप्ता, मैनेजिंग प्रोप्राईटर, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं हिन्दी प्रेस, जालन्धर में मुद्रित ।

# दो शब्द

कलम छूने से पहले श्री रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे गम्भीर चिन्तक के गम्भीर विचारों के समीक्षण-सोपान पर चढ़ना प्रभाकर के विद्यार्थियों के लिए कितना दुरूह है, तीस वर्षों के लगातार अध्यापन-काल के अनुभव ने मुझे ऐसा सुझाव दिया। इस विषय पर लिखने के लिए कई बार कलम उठाई और कई बार उसे एक ओर रखना पड़ा। अन्ततः निश्चय किया कि गम्भीर चिन्तक का सरली-करण द्वारा सरल रूप ही बतलाया जाय तो पढ़ने वालों के लिए यह विषय भी बुद्धि-गम्य बन सकता है। इसी लिए काव्य में साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्य-सम्बन्धी परिपक्व-बुद्धि-परिपाच्य लोहे के चणों को सुकुमारमति तथा अपरिणत-बुद्धि बालकों को चबाने के लिए देना उचित न समझा। अगस्त्य मुनि की आराधना द्वारा शुक्ल जी के विचारार्णव को पहले कूजे में बन्द किया फिर सुकोमल-मति बालकों को उस में से आचमन करके अपने मन तथा आत्मा को प्रफुल्लित करने के लिए इस ओर आने के लिए कहा।

आज तक मैंने जितनी भी पुस्तकें लिखीं अपनी अवस्था का ध्यान न रखते हुए, जिनके लिए लिखीं, मुझे उनका रूप धारण कर वैसा ही बनना पड़ा। खुराक देने से पहले मुझे पढ़ने वालों की पाचन-शक्ति का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इस स्कीम से यह चूर्ण 'रामबाण' ही सिद्ध हुआ, यह सब भगवान् की कृपा है।

इस पुस्तक में भी क्या हेय है और क्या उपादेय है, यह

था। शुक्लजी के पितामह का नाम था पं० शिवदत्त शुक्ल, जो तीस वर्ष की अवस्था में ही अपनी इह-लीला समाप्त कर के स्वर्ग सिधार गए थे। उस समय शुक्ल जी के पिता, पं० चन्द्रबली शुक्ल केवल चार पाँच वर्ष के बालक थे। शुक्लजी की मातामही अपने चारों पुत्रों को साथ ले 'नगर' की रानी साहिबा के साथ रह कर अपना जीवन व्यतीत करने लगी। रानी साहिबा ने 'नगर' के पास ही बस्ती जिले में अगोना नामक ग्राम में भूमि दे कर उन्हें रहने के लिए घर बनवा दिया था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म अगोना नामक ग्राम में संवत् १९४१ की आश्विन पूर्णिमा के दिन हुआ। शुक्लजी की माता जी गामा के मिश्रवंश की कन्या थीं। सौभाग्य से इसी वंश को भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। संभवतः साहित्य के प्रति यह उत्कट प्रेम शुक्ल जी को अपनी माता जी की वंश-परम्परा से ही प्राप्त हुआ था। शुक्ल जी की प्रारम्भिक शिक्षा राठ तहसील, जिला हमीरपुर में आरम्भ हुई, किन्तु उन की इस शिक्षा में हिन्दी को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इस का एक कारण था। शुक्ल जी के पिता जी मुसलमानी और अंग्रेजी-सभ्यता के समर्थक थे। इन का उन पर पर्याप्त प्रभाव था। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य और है। उस समय हिन्दी पढ़ने की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता था। पिता की हिन्दी के प्रति उपेक्षा-दृष्टि के कारण शुक्लजी आठवीं कक्षा तक हिन्दी की शिक्षा से वंचित रहे। इस के पश्चात् उन के पिता मिर्ज़ापुर आ कर रमई पट्टी में निवास करने लगे। इसी बीच, काल के कठोर हाथों ने उन की माता जी को इन से छीन लिया। आप ने मिडल की परीक्षा सवत् १९५५ के आस-पास पास की। बारह वर्ष की अल्पावस्था में आप का विवाह

काशी-निवासी पण्डित रामफल ज्योतिषी की कन्या से सम्पन्न हुआ। सत्रह वर्ष की अवस्था में आप ने लंदन मिशन स्कूल से फाइनल की परीक्षा पास की, तदनन्तर एफ० ए० पास करने के लिए कायस्थ पाठशाला में प्रवेश प्राप्त किया। शुक्ल जी गणित में बिल्कुल कमज़ोर थे। इसलिए उन को यह पढ़ाई आगे न चल सकी। इस के उपरान्त आप वकालत के मैदान में कूदे, परन्तु असफलता यहाँ भी सामने खड़ी थी। 'वकालत' पढ़ने के लिए उन का प्रयाग जाना सफल न हुआ।

शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने में, अपने को असफल पा कर शुक्ल जी को कुछ निराशा हुई और आप ने नौकरी करने का निश्चय किया। मिर्ज़ापुर के कलक्टर के कार्यालय में आप २०) मासिक वेतन पर नियुक्त हुए। किन्तु वहाँ भी उन की नहीं पटी। आत्म-सम्मान-भावना में सराबोर शुक्ल जैसा व्यक्ति कब तक किसी के आधीन रह कर नौकरी कर सकता था? साहब को सलाम बजाना उन्होंने सीखा न था। और यह सलाम न बजाने का ही परिणाम था कि उन्हें इस नौकरी से भी हाथ धोने पड़े। उन का यह कथन ही नहीं, विश्वास था कि आत्म-सम्मान की सुरक्षा के लिए, यदि सभी विपत्तियां एक साथ उन पर टूट पड़ें, तो भी वे उनका हँसते-हँसते सामना करेंगे, परन्तु आत्म-सम्मान खो कर अतुलित सुख उन्हें स्वीकार न था। उन की इस भावना के दर्शन हमें उनकी इस उक्ति में स्पष्ट रूप से हो जाते हैं– "आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए काँटों पर घसीटा जाना अच्छा, पर इसे खो कर फूलों में तुलना अच्छी नहीं।" जिस व्यक्ति के हृदय में ऐसी भावना हिलोरें ले रही हो, वह दफ़तर में कब किस की जी-हज़ूरी कर सकता था? नौकरी तो छोड़ दी, परन्तु ऐसा करने में जिस विपत्ति का सामना उन्हें आगे

चल कर करना पड़ा, उसकी ओर शायद उनका ध्यान नहीं गया था। एक तो विवाहित और दूसरे बेकार हो गए। इसी बात को लेकर घर का वातावरण बिगड़ गया। घर के लोग उनके विरुद्ध हो गए। शुक्ल जी अर्थ-संकट में पड़ गए जो सम्भवतः आज के युग में सब से बड़ा संकट है। इसी अर्थ-संकट के परिहार के लिए आप ने २०) रुपये मासिक वेतन पर मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग-मास्टर का पद सँभाल लिया। इस काम में उनके आत्म-सम्मान की भावना को चोट लगने की सम्भावना भी कम थी और दूसरे इस काम में उनकी रुचि भी जमती थी। इस लिए उन्होंने इस कार्य को बड़ी प्रसन्नतापूर्वक निभाया।

जैसा पहले कह आए हैं, शुक्ल जी की माता, भारत के एक महान् कलाकार के वंश की थीं, इसलिए उन्हें साहित्य के प्रति प्रेम वंशपरम्परा से प्राप्त हुआ। माता के अतिरिक्त उनके पिता भी काव्य के बड़े प्रेमी थे। शुक्ल जी स्वयं लिखते हैं कि उन के पिता फारसी और हिन्दी काव्य के बड़े प्रेमी थे। रात्रि के समय, जब उनका यह काव्य-प्रेम फूटता तो वे परिवार के सभी सदस्यों को इकट्ठा कर के उन्हें "रामचरितमानस", भारतेन्दु के नाटक तथा "रामचन्द्रिका" खूब रस ले कर सुनाया करते थे। शुक्ल अपने बाल्यकाल के संस्मरण में अपनी बाल-बुद्धि का हवाला देते हुए कहते हैं, "सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।" संभवतः इसी प्रेरणा के कारण आप अपने पिता जी से चोरी, पं० गंगाप्रसाद के पास चुपके-चुपके हिन्दी पढ़ने जाते थे। मिर्ज़ा-पुर में ही आप पं० केदारनाथ पाठक के सम्पर्क में आए। शुक्लजी नित्य उनके पुस्तकालय में पढ़ने जाया करते थे। इस समय आप की अवस्था अभी थोड़ी ही थी। आप नवीं कक्षा में पढ़ा करते थे।

यहीं शुक्लजी की साहित्यिक प्रवृत्ति ने विकास पाया ! इस प्रकार पं० केदारनाथ पाठक का शुक्लजी के साहित्यिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य के अध्ययन की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने पंद्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में ही शुक्ल जी को एक ऐसी साहित्यिक-मित्र-मण्डली में ला खड़ा किया कि वे अब साहित्य-चर्चा में सक्रिय भाग भी लेने लगे थे। "प्रेमघन की छाया स्मृति" नामक लेख में आप लिखते हैं :—

"सोलह वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते तो समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों की एक खासी मण्डली मुझे मिल गई जिस में श्रीयुत काशी-प्रसाद जी जायसवाल, बा० भगवानदास जी हरलना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे।" इस साहित्यिक मण्डली के प्रभावस्वरूप शुक्लजी इस समय तक "ग्यारह वर्ष का समय" नामक कहानी, "मनोहर छटा" नामक कविता एवं "पृथ्वीराज" और "हास्य-विनोद" नामक नाटक पर अपनी लेखनी चला चुके थे। शुक्लजी अब अपनी गणना हिन्दी-लेखकों में करने लगे। आप की साहित्य-साधना के मुख्यतः दो केन्द्र रहे—काशी और मिर्ज़ापुर। मिर्ज़ापुर में रची गई रचनाएँ—कहानी, कविता, निबन्ध, अनुवाद आदि शुक्लजी की प्रारम्भिक रचनाएँ थीं। किन्तु काशी में रचित बाद की रचनाएँ प्रौढ़ता और पांडित्य से परिपूर्ण हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। वास्तव में शुक्ल आलोचक, निबन्धकार और इतिहास-लेखक के रूप में ही हिन्दी-जगत् को प्रभावित एवं प्रेरित कर सके हैं, कविता और कहानी उनका क्षेत्र नहीं था। ऐसा लगता है कि निबन्ध लिखते-लिखते और आलोचना करते-करते शुक्लजी कहानी और कविता की ओर भी मुड़ गए हैं। यह केवल उनका शौक-मात्र दिखाई देता है। कवि मूलतः भावुक हुआ करते हैं और भावनाओं के सामने तर्क

घुटने टेक देता है। कुछ भी कहो, आलोचक का हृदय कविता में रम नहीं पाता। निबन्धकारिता और आलोचना ही शुक्लजी के क्षेत्र थे। इन्हीं में उनकी अप्रतिम प्रतिभा का अद्वितीय चमत्कार प्रकट हुआ है। शुक्लजी एक कुशल कहानीकार न थे, पर कहानी कैसी होनी चाहिए इस विषय में उनके विचार प्रशंसनीय हैं। वे कवि नहीं थे, किन्तु काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण अनुकरणीय है। संवत् १९६० में "सरस्वती" में प्रकाशित आरम्भिक मौलिक कहानियों में शुक्लजी की कहानी "ग्यारह वर्ष का समय" भी छपी थी। अपनी "हिन्दी साहित्य का इतिहास" पुस्तक में हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी का उल्लेख करते हुए शुक्लजी मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियाँ चुनते हैं और उन्हें तीन ऐसी कहानियाँ मिलती हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की "इन्दुमती" (संवत् १९५७); स्वयं शुक्ल द्वारा लिखित, "ग्यारह वर्ष का समय" (संवत् १९६०) और बंगमहिला की "दुलाई वाली" (संवत् १९६४)। "इन्दुमती" को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी ठहराते हुए शुक्लजी अपनी कहानी, "ग्यारह वर्ष का समय" को दूसरे नम्बर पर मानते हैं और तीसरा स्थान "दुलाईवाली" को देते हैं। शुक्ल जी की कहानी के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि वह, "आधुनिकता के लक्षण से युक्त अवश्य थी और किशोरीलाल जी की पूर्व प्रकाशित दोनों कहानियों से श्रेष्ठ थी, फिर भी 'दुलाईवाली' में जैसा निखार है, वैसा इस में नहीं है।" आधुनिक साहित्यिकता की दृष्टि से, द्विवेदी जी "दुलाईवाली" को ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानते हैं। हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी हम इन तीनों में से किसी एक को मान लें, परन्तु साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इन तीनों का महत्त्व समान सा है क्योंकि

ये तीनों एक ही उत्थान की कहानियाँ हैं। खैर! हिन्दी-कहानी-साहित्य का यह आरम्भ बड़ा अच्छा था। हमें एक बात इस विषय में नहीं भूलनी चाहिए कि हिन्दी की मौलिक कहानियों का यह प्रयोग-काल था।

संवत् १९६६ के आस-पास शुक्ल जी "हिन्दी-शब्द-सागर" की रचना के लिए काशी पहुँचे। यहाँ आ कर उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन और सुविधाएँ प्राप्त हुईं और परिणाम-स्वरूप शुक्ल जी एक प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक सिद्ध हुए। हिन्दी-साहित्य-जगत् ने उनको आदर दिया। शुक्ल जी इस से पूर्व "आनन्द-कादम्बिनी" के सम्पादक रह चुके थे। काशी में भी वे "काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका" के सम्पादक-पद पर कुछ समय तक आसीन रहे। इधर आप ने "हिन्दी-शब्द-सागर" समाप्त किया और उधर हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक के पद पर आप की नियुक्ति हो गई। इस पद पर रह कर आप ने अनेक साहित्यिक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। किन्तु अर्थाभाव की समस्या अब भी शुक्ल जी के सामने गम्भीर रूप धारण किए खड़ी थी। भारत का साहित्यकार सदा अर्थसंकट का शिकार रहा है तो शुक्ल जी इस से कब बच सकते थे? इसी समस्या का हल ढूँढते हुए आप अलवर के महाराज श्री जयसिंह के पास चले गए और वहाँ एक अच्छी नौकरी कर ली, परन्तु यहाँ भी उन की आत्मसम्मान-भावना ने उन्हें टिकने न दिया। नौकरी उन के स्वभाव के विरुद्ध सिद्ध हुई। स्वभाव-विरोधी कार्य शुक्लजी कभी करने को तैयार न थे, फिर चाहे उन्हें फ़ाके ही क्यों न काटने पड़े? एक बार शुक्ल जी संयोग से फटी हुई धोती पहने बैठे थे। उन की पत्नी ने खीज के स्वर में उन से कह दिया कि, "तुम अच्छी नौकरी तो करते नहीं, यहाँ ७५) रुपये पर ज़िन्दगी बिता

रहे हो।" इस पर शुक्ल जी भला कब चुप बैठने वाले थे तुरन्त बोल उठे :—

"चीथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखाट पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।"

अतः स्वाधीनता और आत्मसम्मान में दृढ़ विश्वास रखने वाले शुक्ल जी अलवर महाराज की चार सौ रुपये की नौकरी से त्याग-पत्र दे कर काशी लौट आए। और आप वहाँ रह कर ही पहले की भाँति कार्य करने लगे। संवत् १९९४ में आप बाबू श्याम सुन्दर दास जी के बाद हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और इस पद पर आप ने तीन वर्ष तक कार्य किया।

शुक्ल जी विनोदी जीव थे, इस बात की पुष्टि डा० राम विलास शर्म्मा के इन शब्दों में हो जाती है :—"अपने बारे में उन्होंने कम लिखा है, फिर भी उन की रचनाओं में जहाँ-तहाँ व्यक्तिगत बातों का उल्लेख हुआ है, उन से पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तस्वीर बनती है"। "मैं ने पहाड़ों और जंगलों में घूमते समय—शुक्ल जी के इन शब्दों का उल्लेख करते हुए डा० राम विलास आगे कहते हैं—साधुओं को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था।" "साधु मुग्ध हुए हों, चाहे न हुए हों, शुक्ल जी ने जंगलों-पहाड़ों में घूम कर प्रकृति का बहुत निकट से परिचय पाया था। इस में सन्देह नहीं।" शुक्ल जी के शब्द उद्‌धृत करते हुए आप लिखते हैं :—"एक बार रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ, काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का भ्रमण कर चुका था। यह भ्रम टूटा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से!" "काशी की गलियों में उन्हों ने ठठेरों को मायावाद समझाकर गाहक से दूना दाम वसूल करते देखा था। साँची का स्तूप देखते हुए महुओं की सुगन्ध पर वह

झूम उठे थे और उस लखनवी दोस्त से खीज़ उठे थे जिसे डर था कि महुएँ का नाम लेने से "लोग देहाती समझेंगे।" उन्होंने चूल्हा-फूंकते हुए ब्राह्मण देवता को उस में पानी डालते देख कर रसात्मक अनुभूति की थी, सीताराम और करेला कह कर बूढ़ों को चिढ़ाने वाले लड़कों की भीड़ से भी आनन्द लिया था। इस का कारण शुक्ल जी का मानव-प्रेम, उन की विनोद-प्रियता और ज़िंदादिली थी। लड़कों के सिवा, बूढ़े रसिकों से भी यह पद सुन कर याद कर लिया था, "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज, है मौज मनोज ही की" प्रकृति को अवलामय देखने वाले कवियों को लक्ष्य कर के आचार्य जो कहते हैं, "आज कल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुप-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप में देखना चाहिए।" यह तो हुआ शुक्ल जी के व्यक्तित्व का विनोदी-स्वरूप ! परन्तु विनोद-प्रियता ने उन के व्यक्तित्व के गाम्भीर्य को ढक नहीं लिया है। शुक्ल जी की रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर और गम्भीर था जो उन के गहन चिन्तन और सूक्ष्म मनोविश्लेषण का परिणाम था। उन के व्यक्तित्व की यह गम्भीरता सदा बनी रहती है, पर इस गाम्भीर्य के कारण जो थोड़ी बहुत दुरूहता उन के लेखों में आ जाती है, उस का परिहार उन का विनोदी-स्वभाव कर देता है जिस के चिह्न हमें स्थान-स्थान पर मिलते हैं। शुक्लजी के इसी प्रखर एवं गम्भीर स्वभाव एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन इस प्रकार है :—"रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उन के वक्तव्यों की सरसता उन की बुद्धि की आँच से सूख जाती

थी और उन के मतों का लचीलापन जाता रहता था। आप को या तो 'हाँ' करना पड़ेगा या 'न', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उन का अपना मत सोलह आने अपना है। वह तन कर कहते हैं, "मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने या न मानने की मुझे परवाह नहीं।" शुक्लजी प्रभावित करते हैं। नवीन लेखक उन से डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की दासता पसन्द नहीं करते और नवीन की दासता तो उन के लिए एक दम असह्य है। शुक्लजी इसी बात में बड़े हैं और इसी बात में उन की कमज़ोरी है।" डाक्टर द्विवेदी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी का व्यक्तित्व कितना प्रखर रहा होगा। उन्हों ने जो कुछ लिखा, गम्भीर चिन्तन और मनन के उपरान्त लिखा। अपनी आलोचना में उन्होंने किसी का कभी पक्ष नहीं लिया। जो कहा, बेधड़क हो कर। यह था शुक्लजी का सशक्त एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व।

आचार्य शुक्लजी ने अपनी अप्रतिम साहित्य-साधना से भारती के विशद कोष में जो अभिवृद्धि की है, उस से हिन्दी-साहित्य जगत् भलीभाँति परिचित है। शुक्लजी की यह हार्दिक इच्छा थी कि हिन्दी-साहित्य उन्नति और विकास की चोटियों को छू जाए। हिन्दी की बढ़ती हुई प्रगति को देख कर आचार्य शुक्लजी ने अपने इन्दौर वाले भाषण में कहा था :—"जिन आँखों से मैं ने इतना देखा, उन्हीं से अब अपने हिन्दी-साहित्य को विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौंदर्य और मंगल का प्रभूत संचय करके एक स्वतन्त्र 'नव-निधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ।" शुक्ल जी के जीवन में तो उन की यह इच्छा पूरी नहीं हुई, किन्तु हम आशा करते हैं कि जनवादी स्वतंत्र भारत में सुशिक्षित जनता के समृद्ध जीवन के आधार पर नूतन-

जन-साहित्य के निर्माण द्वारा आचार्य शुक्लजी के इस पुनीत स्वप्न को हमारे साहित्यकार साकार करेंगे। जीवन के अन्तिम चरण में शुक्ल जी को श्वास-रोग (दमा) ने घेर लिया था। दिन-प्रतिदिन उन का यह रोग बढ़ता गया। विशेपकर सर्दियों के दिनों में तो इस का प्रकोप अत्यन्त असह्य हो जाता। रोग के बढ़ जाने पर भी इस अध्यवसायी साहित्यकार का अध्ययन-कार्य पूर्ववत् चलता रहा। परन्तु सहनशक्ति को रोग के सामने परास्त होना पड़ा। रोग के रूप में मृत्यु की विजय हुई। परिणाम-स्वरूप संवत् १९९७ में माघ सुदी पंचमी रविवार को श्वास-प्रकोप के कारण शुक्ल जी की हृदय-गति रुक गई और हिन्दी-जगत् का हृदय चीत्कार कर उठा। हिन्दी-साहित्य-गगन का यह दिव्य सुधांशु सदा के लिए लुप्त हो गया। कविवर निराला ने अपने आँसू इतना कह कर बहाए :—

"अमानिशा थी समालोचना के अम्बर पर,
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।"

हिन्दी-साहित्य का एक महान् कलाकार उस से बिछड़ गया। शुक्ल जी के निधन से हिन्दी-साहित्य का आचार्य-पीठ एक अनिश्चित काल के लिए सूना हो गया।

साहित्यकार के जीवन से उस की कृतियाँ भिन्न नहीं की जा सकतीं। शुक्लजी की इन कृतियों का विस्तृत-विवेचन तो हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ संक्षेप में इन का परिचय देना अनुपयुक्त न होगा। हिन्दी-साहित्य शुक्लजी जैसे प्रतिभाशाली कलाकार को पा कर धन्य हो गया। उन्हों ने जिस साहित्यांग का स्पर्श किया, उसे एक नया रूप और नया निखार दे दिया। उस समय हिन्दी-साहित्य को प्रौढ़ रचनाओं की बड़ी आवश्यकता थी और इस की पूर्ति आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने की। यों तो

आप ने निबन्ध, आलोचना, इतिहास, काव्य और अनुवाद सभी साहित्यांगों पर लिखा है, परन्तु इन में से प्रथम तीन क्षेत्रों में ही आप की वास्तविक प्रतिभा परिलक्षित होती है।

(१) हिन्दी-निबन्ध पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हुआ—उसी प्रकार जैसे अन्य साहित्यांग। आचार्य शुक्लजी से पूर्व के निबन्धों में प्रौढ़ता और भाव-गाम्भीर्य का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति आचार्य शुक्लजी के निबन्धों ने की। अपने आरम्भिक जीवन में शुक्ल ने "साहित्य", "भाषा की शक्ति", "उपन्यास", "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी", "मित्रता" आदि लेख लिखे थे। प्रौढ़ावस्था में लिखे गए निबन्धों का संग्रह उन की पुस्तक "चिन्तामणि" भाग, १-२ में प्राप्त होता है। "चिन्तामणि" के ये निबन्ध दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के निबन्ध भावों व मनोविकारों पर लिखे गए हैं तथा दूसरे प्रकार के निबन्ध समीक्षात्मक हैं। ये समीक्षात्मक निबन्ध भी दो प्रकार के हैं। इन में से एक प्रकार के निबन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा के आधार पर लिखे हुए लेख हैं और दूसरे निबन्ध व्यावहारिक समीक्षा के आधार पर लिखे गए हैं। शुक्ल जी के मनोविकार-सम्बन्धी निबन्ध हिन्दी-साहित्य के लिए एक नूतन देन हैं। इसी प्रकार समीक्षात्मक-निबन्धों के रूप में एक नवीन आलोचना-पद्धति का सूत्रपात शुक्लजी ने किया। इस प्रकार निबन्धकार शुक्लजी ने अपने निबन्धों से हिन्दी-निबन्ध-साहित्य को उत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

(२) आचार्य शुक्लजी का आगमन हिन्दी-आलोचना की प्रारम्भिक एवं नवचेतनावस्था में हुआ। तुलसी, सूर तथा जायसी पर शुक्लजी ने व्यावहारिक आलोचना की है। सैद्धांतिक आलोचना के अन्तर्गत शुक्लजी ने काव्य पर ही विशेष रूप से अपने विचार

व्यक्त किए हैं। काव्य के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों—नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि पर भी शुक्लजी ने अपने विचार प्रकट किए हैं।

(३) हिन्दी-साहित्य का जब अपना कोई इतिहास-ग्रन्थ नहीं था, उस समय आचार्य शुक्लजी ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखा। इसलिए उनके इस इतिहास का हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्त्व है। शुक्लजी के इस इतिहास को हिन्दी का प्रथम वास्तविक इतिहास-ग्रन्थ मान सकते हैं, जिस में हिन्दी-साहित्य की रचनाओं के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के चित्रण के अतिरिक्त साहित्य का काल-विभाजन बड़े मनन और चिन्तन के पश्चात् किया गया है। विशुद्ध इतिहास का, साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है। साहित्य के इस इतिहास का महत्व इस से भलीभाँति समझा जा सकता है कि इसके प्रकाशन पर इसका विशेष आदर किया गया और आज भी इस का महत्त्व पूर्ववत् सा ही है। बाद में लिखे जाने वाले साहित्य के सभी इतिहास-ग्रन्थ शुक्लजी के इतिहास की नकल जान पड़ते हैं। आज भी यह ग्रन्थ साहित्यिक-इतिहास-ग्रन्थों का मूल प्रेरणास्रोत बना हुआ है।

शुक्ल जी मूलतः आलोचक थे, कवि नहीं। काव्य के क्षेत्र में भी उन्होंने पदार्पण किया, परन्तु उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उनकी कविताएँ द्विवेदी-कालीन विषय को लेकर चलीं। भाषा उनकी सीधी-सादी खड़ी बोली है जिसके द्वारा कवि ने सुधारवादी एवं आदर्शवादा भावनाओं का प्रतिपादन किया है।

आचार्य शुक्ल जी ने दो भाषाओं से अनुवाद प्रस्तुत किए हैं—अंग्रेजी तथा बंगला। इनमें भी अधिकतर अनुवाद अंग्रेजी के हैं। इन अनुवादों के विषय दो प्रकार के हैं। कुछ अनुवाद तो

दर्शन तथा मनोविज्ञान से सम्बन्धित हैं और कुछ का विषय प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति से सम्बन्धित है। पहले प्रकार के अनुवादों में सर-ऑलिमार लॉज के एक लेख के आधार पर शुक्लजी का अनुवाद "अखण्डत्व" मिलता है; डा० ब्राउन की "फिलासफी आफ ह्यूमन माइंड" के आधार पर "सदाचार और उत्तम प्रकृति", हरबर्ट स्पेन्सर के "प्रोग्रेस—इट्स लॉ ऐण्ड काजेज़" पर लिखा हुआ "प्रगति व उन्नति, उसका नियम और निदान" मिलता है। दूसरे प्रकार के अनुवादों में "इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" के आधार पर शुक्लजी के अनुवाद "पारस का प्राचीन इतिहास", "प्राचीन भारतवासियों की समुद्र यात्रा", उपलव्ध होते हैं। "डॉन" (Dawn) पत्रिका में प्रकाशित श्री हाराणाचन्द्र चकलेदार के लेख का अनुवाद प्रोफेसर कृष्ण स्वामी आयंगर के लेख के आधार पर "भारत के इतिहास में" और डा० राजेन्द्रलाल मित्र के लेख के आधार पर "प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा" अनुवाद मिलता है। इन लेखों के अतिरिक्त आचार्य शुक्लजी ने कुछ दर्शन, शिक्षा, इतिहास और संस्कृति-सम्बन्धी पुस्तकों के भी अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। जर्मन दार्शनिक हेगेल के "रिडिल आव दी यूनिवर्स" का अनुवाद "विश्व-प्रपंच", "राज्यप्रवन्ध शिक्षा", राजा सर टी० माधवराव के "माइनर हिण्ट्स" का अनुवाद है। स्माइल के "प्लेन लिविंग ऐण्ड हाई थिंकिग" के आधार पर "आदर्श जीवन" प्राप्त होता है। डा० स्वानवक के "मेगस्थनीज़ इंडिया" का अनुवाद "मेगस्थनीज़ भारतवर्षीय वर्णन" नाम से प्राप्त होता है। साहित्यिक क्षेत्र में जोसेफ एडिसन के "ऐस्से ऑन इमैज़िनेशन" का अनुवाद "कल्पना का अनुवाद" रूप में प्राप्त होता है तथा सर एडविन आर्नल्ड की "दि लाइट आव एशिया" का पद्यानुवाद

"बुद्ध-चरित" मिलता है। उनका "बुद्ध-चरित" ब्रज भाषा में लिखा काव्य है।

इस प्रकार आचार्य शुक्लजी हिन्दी साहित्य में एक ऐसा प्रखर व्यक्तित्व ले कर आए जिस में अध्ययन-शीलता, गम्भीरता, मौलिकता तथा स्वतन्त्रता थी।

———

# निबन्धकार

आचार्य शुक्ल जी के अनुसार, "निबन्ध' गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सब से अधिक सम्भव होता है। निबन्ध या गद्य-विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं।" आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिस में व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। शुक्लजी का कथन था कि इस व्यक्तिगत विशेषता के प्रकाशन में विचारों की विशृंखलता, भावों की विचित्रता तथा अप्रकृत अर्थ-योजना नहीं होनी चाहिए। शुक्ल जी स्वयं एक उच्चकोटि के निबन्धकार थे। डा० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य शुक्लजी ने यद्यपि द्विवेदी-युग में ही निबन्ध-रचना आरम्भ कर दी थी, किन्तु वास्तव में द्विवेदी-युग और आधुनिक-युग के बीच वे एक कड़ी का काम करते हैं। आचार्य शुक्लजी के पूर्व हिन्दी साहित्य में जो निबन्ध-साहित्य उपलब्ध होता है, उस में निबन्ध का प्रधान तत्त्व प्रौढ़ता और विचारों का गाम्भीर्य न्यून रूप में मिलता है। हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के इस अभाव की पूर्ति आचार्य शुक्लजी ने अपने निबन्धों द्वारा की।

आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार तथा आलोचक माने जाते हैं। उन के निबन्ध-क्षेत्र में पदार्पण करते ही निबन्ध-साहित्य को एक नया जीवन मिल गया। द्विवेदी-युग में विषयविस्तार और परिमार्जन तो काफी हुआ,

किन्तु उस युग में विश्लेषणात्मक तथा गहराई में जाने की प्रवृत्ति का विकास न हो सका। शुक्ल जी के रूप में हिन्दी को सर्वप्रथम एक महान् निबन्धकार प्राप्त हुआ। शुक्लजी के इस निबन्धकार तथा आलोचक-सम्बन्धी व्यक्तित्व पर विभिन्न लेखकों ने अपनी धारणाओं को व्यक्त किया है और प्रायः सभी ने उन के महत्त्व को स्वीकार किया है। कुछ विरोधी धारणाएँ भी मिलती हैं। एक आलोचक ने कहा है :—"शुक्लजी ने अपनी तत्त्व-शून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिए पाण्डित्य-प्रदर्शन का रूपक रचा है।" एक अन्य आलोचक का कथन है कि "शुक्लजी की आलोचनात्मक धाराएँ पिछड़ चुकी हैं।" इन दोनों महानुभावों की कटु-आलोचनाओं का कारण यदि ढूंढने का प्रयास करें तो पता चलेगा कि वे गुलाब में चमेली और चमेली में गुलाब की सुगन्ध ढूंढने का प्रयास कर रहे हैं। वे शुक्लजी में कुछ ऐसी विशेषताएँ ढूंढते हैं, जो उन में नहीं हैं और उन विशेषताओं की ओर उन की दृष्टि ही नहीं जाती, जो उन में है। आचार्य शुक्ल लोक संग्रह के समर्थक थे और इसी लिए लोक-कल्याण विरोधी साहित्य का उन्हों ने डट कर विरोध किया है। शुक्लजी की दृष्टि में वह साहित्य जिस में लोक-कल्याण भावना की उपेक्षा की गई हो, हेय है, त्याज्य है। इसी लिए शुक्लजी रीतिकालीन शृंगारी साहित्य की प्रशंसा नहीं कर सके, क्योंकि उस में शृंगार के नाम पर उच्छृंखलता भरी पड़ी है जो शुक्ल जी को स्वीकार नहीं। यही कारण है कि नवयुवक आलोचकों को शुक्ल जी की धारणाएँ चुभती हैं। ऊपर उद्धृत दोनों आलोचकों के मन्तव्य नवयुवकों की इसी मनोवृत्ति का परिणाम हैं।

निबन्ध-साहित्य में शुक्ल जी अद्वितीय हैं, इस ओर संकेत करते हुए श्री गुलाबराय का कथन है कि, "गद्य-साहित्य की, और

विशेषकर निवन्ध-साहित्य की प्रतिष्ठा वढ़ाने में शुक्ल जी अद्वितीय हैं। निवन्धों के क्षेत्र में गम्भीर विवेचन तथा सूक्ष्म-विश्लेषण को लाने का श्रेय आचार्य शुक्लजी को है।

शुक्लजी के निवन्धों की शैली गम्भीर, संतुलित, और मार्मिक है। उनकी गवेषणात्मक शैली कुछ दुरूह और गम्भीर है। शुद्ध आलोचनात्मक शैली में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग कम हुआ है। गवेषणात्मक शैली में इसका नितान्त अभाव है। मनोविकार-सम्वन्धी-निवन्धों में उनकी भावात्मक-शैली के दर्शन होते हैं। शुक्लजी इन विभिन्न शैलियों के प्रयोग में गम्भीर विवेचन के साथ साथ मीठी चुटकियाँ भी लेते चलते हैं, जो प्रभाव में व्यंग्यात्मक-उक्तियों से कम नहीं होतीं। शुक्लजी की शैली के इन विविध रूपों को देखकर ही एक आलोचक ने कहा है, "शुक्लजी का हृदय कवि है; मस्तिष्क आलोचक है और जीवन एक अध्यापक का।" शुक्लजी के निवन्धों में हृदय और बुद्धि का जैसा सामंजस्य मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी निवन्ध-लेखन शैली वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त है। शुक्लजी के साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को एक निर्भरयुक्त भूधर कहा जाता है जिस में एक ओर मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता है और दूसरी ओर हृदय की भावुकता है। ये दोनों विशेषताएँ शुक्लजी के निवन्धों में स्पष्ट झलकती हैं। शुक्लजी ने अपनी भाषा, शैली और विचार-पद्धति से हिन्दी-गद्य का एक कलात्मक स्वरूप प्रतिष्ठित किया। इसीलिए वे निवन्ध-क्षेत्र में आचार्य कहलाये।

आचार्य शुक्लजी के निवन्धों का संग्रह "चिन्तामणि" भाग १—२ में प्राप्त होता है। "चिन्तामणि" के इन निवन्धों को देख कर शुक्लजी की प्रतिभा की प्रशंसा अनायास ही पाठक कर वैठता है। इन निवन्धों को देख कर यह प्रश्न उठाया गया है कि शुक्लजी

के इन निबन्धों को विषय-प्रधान कहा जाए अथवा व्यक्ति-प्रधान ? "चिन्तामणि" पहला भाग के आरम्भ में शुक्लजी स्वयं इस विषय में लिखते हैं—"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न कुछ पाता रहा है।" आचार्य शुक्ल जी के इन शब्दों से यही ध्वनि निकलती है कि उन के निबन्ध विचार-प्रधान अथवा विषय-प्रधान हैं और उन में लेखक का व्यक्तित्व भी झलकता रहता है। विचार-प्रधान निबन्धों में हृदय की भावनाएँ प्रधान रहती हैं।

शुक्ल जी ने अधिकतर विषय-प्रधान निबन्धों की रचना की है जिन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे जो साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर लिखे गए हैं जिन्हें समीक्षात्मक निबन्ध कह सकते हैं। इन आलोचनात्मक निबन्धों के अन्तर्गत, "कविता क्या है ?", "साधारणीकरण। व्यक्ति-वैचित्र्यवाद", "रसात्मक बोध के विविध रूप" आदि लेख आएँगे। दूसरे प्रकार के निबन्ध जीवन-सम्बन्धी लेख हैं जिन में शुक्ल जी ने जीवन और समाज में व्यवहृत प्रधान-प्रधान मनोविकारों—"करुणा", "उत्साह", "भय", "लोभ और प्रीति" पर अपने विचार प्रकट किए हैं। शास्त्र-सम्बन्धी निबन्धों (पहली प्रकार के) के शीर्षकों से ही यह संकेत मिल जाता है कि शुक्ल कितने जटिल एवं गहन विषयों पर चिन्तन तथा मनन करना चाहते हैं। ऐसे गम्भीर विषयों पर निबन्ध लिखना सरल

कार्य नहीं है। इन निवन्धों में साहित्य-शास्त्रीय-विवेचना के कारण मनोरंजन के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसी लिए इन निवन्धों में विचारों का प्राधान्य होना अनिवार्य है। साहित्य-शास्त्र-सम्वन्धी इन निवन्धों में कुछेक पर हम शुक्ल जी के विचार आगे चल कर प्रस्तुत करेंगे। दूसरी प्रकार के मनोविकार-सम्वन्धी निवन्धों की रचना करने का प्रथम और अभी तक अन्तिम प्रयास केवल आचार्य शुक्ल जी ही कर सके हैं। विचारात्मक शैली में लिखे गए ये निवन्ध हिन्दी-साहित्य को शुक्ल जी की नूतन देन हैं। "चिन्तामणि" के अधिकांश निवन्ध वुद्धि-तत्त्व की प्रधानता लिए हुए हैं क्योंकि शुक्ल जी के कथनानुसार 'यात्रा के लिए' वुद्धि ही निकलती रही है, परन्तु वुद्धि-तत्त्व की इस प्रधानता के रहते हुए भी मनोविकार-सम्वन्धी इन निवन्धों में हृदय-तत्त्व का भी समावेश हुआ है। इन निवन्धों में विचारों का प्राधान्य रहते हुए भी उन का जीवन से पूर्ण सम्वन्ध परिलक्षित होता है। श्री रामवहोरी शुक्ल जी अपनी पुस्तक, "हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास" में शुक्ल जी के इन निवन्धों के सम्वन्ध में लिखते हैं, "इन के निवन्ध एक साथ शास्त्र भी हैं, रचना भी हैं और आलोचना भी। इतना होते हुए भी वे निवन्ध हैं। निवन्ध अव एक शिथिल रचना-मात्र न रह कर व्यवस्थित भाव विचाराभिव्यंजना वन गया है। शुक्ल जी के निवन्ध में नूतन तथ्यों और रहस्यों का उदघाटन है, व्यंग्य भी है, कवित्व भी है और विचार-प्रवाह भी। इस प्रकार शुक्ल जी का इस क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण स्थान और कार्य है।" "करुणा", "लोभ" आदि अरूप एव अमूर्त मनोविकारों की गम्भीर और गहन परिभाषा तथा व्याख्या करते समय शुक्ल जी अपनी लोक-कल्याण-भावना तथा मार्मिक व्यंग्यों की सहायता से अपने

निबन्धों को लोहे के चने बनने से बचा लेते हैं। जो लोग शुक्ल जी के निबन्धों को 'लोहे के चने' बता कर उन की आलोचना करते हैं, वे शुक्ल जी के हास्य और व्यंग्य की चुटकी को समझने में असमर्थ हैं। शुक्ल जी के निबन्धों को चाय की प्याली पीते हुए पढ़ कर समझना कठिन है। उन के अध्ययन के लिए मस्तिष्क पर थोड़ा जोर डालना पड़ता है। ऐसा किए बिना वे अवश्य लोहे के चने प्रतीत होते हैं। विषय कितना भी गम्भीर क्यों न हो, शुक्ल जी के सरल एवं भावुक हृदय का परिचय स्थान-स्थान पर मिलता है। और फिर शुक्ल जी अवसर पाते ही मीठी चुटकियाँ लेने लगते हैं। एक उदाहरण देखिए :—"मोटे आदमियो ! तुम ज़रा सा दुबले हो जाते, अपने अंदेशों से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।" इस प्रकार शुक्ल जी के निबन्धों में विचार और व्यक्ति—दोनों विशेषताओं का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। विचार-प्रधानता के साथ-साथ लेखक की व्यक्तिगत अनुभूति के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। यह शुक्ल जी के निबन्धों की निजी विशेपता है।

हम अपने दैनिक व्यवहार में अपने मनोविकारों का अशुद्ध प्रयोग कर जाते हैं। ईर्ष्या के स्थान पर स्पर्द्धा और स्पर्द्धा के स्थान पर ईर्ष्या का प्रयोग लोगों को प्राय: करते देखा गया है। इसी प्रकार लज्जा और ग्लानि में भेद प्राय: लोग कम समझते हैं। बात यह है कि इन शब्दों में इतना सूक्ष्म अन्तर है जिस की स्पष्टार्थता बहुत कम लोगों के मस्तिष्क में बनी रहती है। शुक्ल जी ने इस अन्तर को रोचक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन निबन्धों में शुक्ल जी की दृष्टि भावों अथवा मनोविकारों की उत्पत्ति, उन के लक्षण तथा उन के विकास पर निरन्तर रही है। इस के अतिरिक्त, व्यावहारिक

जीवन और समाज में उन के व्यापक प्रभाव को भी स्पष्ट किया गया है। मनोविकारों के इस चित्रण में शुक्ल जी ने अपने जीवन और समाज-सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान के साथ मनोविज्ञान का भी सहारा लिया है। शुक्ल जी की अद्वितीय प्रतिभा ने बड़े स्पष्ट शब्दों में भावों जैसी अमूर्त वस्तु को एक कुशल चित्रकार की भाँति मूर्त रूप दे दिया है। इन भावों की उत्पत्ति की व्याख्या करना सरल कार्य नहीं है। शुक्ल जी ने उत्पत्ति बता कर उन के व्यापक क्षेत्र को भी अभिव्यक्त किया है। वास्तव में यही उन के इन निबन्धों का उद्देश्य है। अब हम शुक्ल जी के इन निबन्धों के आधार पर इन मनोविकारों को स्पष्ट और सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे जिस से इन का रूप पाठक के मस्तिष्क में आसानी से स्पष्ट हो सके।

शुक्ल जी के अनुसार, संसार में प्रत्येक प्राणी सामान्य अनुभूति का एक जोड़ा ले कर उत्पन्न होता है। प्रत्येक नवजात शिशु जब माता के गर्भ से बाहर आता है तो उस में केवल दो अनुभूतियाँ मिलती हैं—सुख की अनुभूति और दुःख की अनुभूति। बच्चा जब हँस रहा होता है तो उसे सुख की अनुभूति हो रही होती है, और उस के रोने में दुःख की अनुभूति का आभास मिलता है। इस प्रकार सुख की अनुभूति का चिह्न हुआ हँसना और दुःख की अनुभूति का चिह्न रोना। आगे चल कर शुक्ल जी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सुख-दुःख की ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य अनुभूतियाँ हैं, विशेष विषयों को देख कर ये सामान्य अनुभूतियाँ उन के अनुसार ही विशेष रूप धारण नहीं करतीं। शुक्ल जी की मनोविकार-सम्बन्धी परिभाषा को हम सरल शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। शुक्ल जी के कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को जब अनेक विषयों का ज्ञान

होने लगता है तो उन विषयों के सम्बन्ध में उस के हृदय में अनेक प्रकार की इच्छाओं का उदय होता है और इच्छाओं के इन विविध रूपों के अनुसार ही विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ जन्म लेती हैं जिन्हें भाव अथवा मनोविकारों की संज्ञा दी जाती है। किन्तु एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि इन अनुभूतियों का मूल आधार वही सुख-दुःख की अनुभूति रहती है जो विषय-भेद के अनुसार अन्य अनुभूतियों को जन्म देती है। शुक्ल जी के शब्दों में :—"अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है।" इसी बात को शुक्ल जी एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "जैसे, यदि शरीर में कहीं सूई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाए कि सूई चुभाने वाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट हो कर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे 'क्रोध' कहते हैं।" इसी प्रकार अन्य मनोविकारों की उत्पत्ति होती है। आगे चल कर शुक्ल जी इन मनोविकारों का मानव-जीवन पर व्यापक प्रभाव बतलाते हैं कि समस्त मानव जीवन को चलाने वाले ये भाव अथवा मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों के प्रेरणा-स्रोत ये भाव ही हैं। जब यही भाव एक विशिष्ट क्रम से संघठित होते हैं, तो शील अथवा चरित्र का निर्माण होता है। शुक्लजी के अनुसार लोक-रक्षा और लोक-रंजन की व्यवस्था के मूल-संस्थापक भी यही भाव हैं। धर्म-शासन में, राजशासन में तथा मत-शासन सभी में इन का प्रयोग किया गया है। कहीं इन भावों का सदुपयोग किया गया है तो कहीं इन से अनुचित लाभ

उठाने के लिए इन का दुरुपयोग भी किया गया है। शुक्ल जी के अनुसार यदि मानव-मनोविकार लोक-हित के व्यापक एवं उच्च उद्देश्य के लिए काम में लाए जाते हैं तो उन का सदुपयोग हुआ है, और यदि किसी सम्प्रदाय अथवा संस्था के संकुचित एवं सीमित उद्देश्य के लिए मानव-भावों से लाभ उठाया गया है तो उन का सदुपयोग नहीं हुआ क्योंकि समस्त लोक की कल्याण-भावना के सामने साम्प्रदायिक-भावना अत्यन्त क्षुद्र दिखाई देती है। इस के अतिरिक्त, शुक्ल जी का कथन है कि भाव-क्षेत्र अत्यन्त पवित्र है। द्वेषपूर्ण साम्प्रदायिक प्रचार के लिए उसे गन्दा करना लोक के प्रति भारी अपराध है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ज्ञान-क्षेत्र की भाँति ही अपने हृदय-क्षेत्र का विस्तृत एवं व्यापक प्रसार करे। मनोविकारों की परिभाषा तथा मानव-जीवन में उन के प्रभाव एवं महत्त्व की विवेचना करने के उपरान्त, अब हम कुछ विशेष, एवं प्रधान मनोविकारों के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचार प्रस्तुत करेंगे।

## उत्साह

शुक्ल अपने मनोविकारों-सम्बन्धी प्रत्येक निबन्धके आरम्भ में परिभाषा देना आवश्यक समझते हैं। यह शुक्ल की शैली की निजी विशेषता है। "उत्साह" नामक भाव को व्यक्त करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।" दुःख के क्षेत्र में भय को जो स्थान प्राप्त है, आनन्द के क्षेत्र में वही स्थान 'उत्साह' का है। भय में हम किसी कठिन स्थिति अथवा अवसर पर एक विशेष प्रकार का दुःख अनुभव करते हैं और कभी-कभी यदि वह स्थिति अधिक कष्ट-दायक हो, तो उस से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। उत्साह में

कुछ इस के विपरीत होता है। उत्साह में हम कठिन स्थिति में साहस से काम लेने का अवसर ढूँढते हैं, और उत्साह के अवसर ढूँढने के लिए हम जो प्रयत्न अथवा कर्म करते हैं, उस में आनन्द की एक उमंग का अनुभव करते हैं। परन्तु केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। साहस के साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न और उस की उमंग का मेल होना आवश्यक है। एक व्यक्ति जो चुप-चाप विना हाथ पैर हिलाए अपने विपक्षी की कड़ी से कड़ी चोटें सहन करता रहता है, उसे हम साहसी तो कहेंगे, उत्साही नहीं। उसे उत्साही उसी समय कहेंगे जब वह साहस के साथ उन चोटों को सहता हुआ 'आनन्द' के साथ अपना काम करता चला जायेगा। इस प्रकार साहस के साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न की उमंग का होना ही उत्साह को जन्म दे सकता है। उत्साह एक यौगिक भाव है जिस में साहस और आनन्द का मेल रहता है।

उत्साह अच्छे गुणों में से एक गुण है। कोई भाव अच्छा तभी कहा जा सकता है जब उस की प्रवृत्ति का परिणाम शुभ हो, बुरा तब कहा जाता है जब उस की प्रवृत्ति का परिणाम अशुभ अथवा बुरा हो। कर्तव्य-पालन की ओर उन्मुख करने वाला उत्साह सुन्दर एवं श्लाध्य कहा जाएगा। इसके विपरीत कर्तव्य-पालन से विमुख करने वाला उत्साह हेय और त्याज्य कहा जाएगा। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के लिए साहस की जो उमंग देखी जाती है, वह प्रशंसनीय होती है। पर, पीड़न, डकेती, लूटमार आदि कार्यों का साहस श्लाध्य नहीं कहला सकता, यद्यपि आप को अत्याचारियों और डाकुओं के साहस की प्रशंसा करने वाले भी बहुत से लोग मिल जाएँगे। परन्तु नैतिक दृष्टि से वे प्रशंसा के अधिकारी कभी नहीं हो

सकते क्योंकि परपीड़न की प्रशंसा करना नैतिकता का गला घोंटना है।

किसी साहसपूर्ण कर्म से जो आनन्द हमें होता है, वह तीन रूपों में प्राप्त होता है। (१) कर्म-भावना से, (२) फल-भावना से, तथा (३) विषयान्तर से। शुक्ल जी कर्म-भावना से उत्पन्न आनन्द को ही सच्चे वीरों का आन्नद मानते हैं क्योंकि इस में साहस का मेल प्राय: अत्यधिक मात्रा में रहता है। उन की धारणा है कि जो उतसाही फल की ओर उन्मुख रहता है, असफलता प्राप्त होने पर वह दु:खी होता है, पर कर्म-भावना में विश्वास करने वाला उत्साही इस दु:ख से बच जाता है। फल की ओर उन्मुख व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि उसे काम थोड़ा करना पड़े और उस थोड़े काम का फल अधिक से अधिक मिले। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को केवल कर्म करने का सुन्दर उपदेश दिया है। फलासक्ति की भावना का ही यह परिणाम है कि लोग आज कल ब्राह्मण को एक पेठा दान कर के पुत्र-रत्न पाने की कामना करते हैं। हनुमान जी का पाँच आने का प्रसाद बोल कर एक लाख रुपये का मुकद्दमा जीतने की कामना करते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि आनन्द का मूल विषय तो कुछ और होता है, पर उस आनन्द के कारण हम में कुछ ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसके कारण हम अन्य दूसरे काम भी हर्ष के साथ करने लगते हैं। इसी हर्ष और प्रसन्नता को देख कर लोग कहते हैं कि हम बड़े उत्साह से काम कर रहे हैं। जब हमारी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है, तो उस कामना पूर्ति से उत्पन्न आनन्द की लहर में जो काम भी हमारे सामने आता है, हम उसे बड़ी प्रसन्नता एवं तत्परता से करते हैं। इस हर्ष और तत्परता को भी लोग

उत्साह ही कहते हैं। इस प्रकार आचार्य शुक्ल "उत्साह" नामक भाव की व्याख्या करने के पश्चात् उसके क्षेत्र की विवेचना करते हुए समाज के लिए उस की उपयोगिता सिद्ध करते हैं।

## श्रद्धा-भक्ति

इस निबन्ध में शुक्ल श्रद्धा की व्याख्या और उसके स्पष्टीकरण के लिए श्रद्धा और प्रेम में अन्तर स्पष्ट करते हैं। श्रद्धा की व्यापकता दिखाते हुए वे सूत्र रूप में 'भक्ति' की भी परिभाषा दे जाते हैं। इसके पश्चात्, श्रद्धा किस प्रकार भक्ति की ओर उन्मुख होती है, शुक्ल जी इसका विवेचन करते हैं।

अन्य निबन्धों की भाँति शुक्ल श्रद्धा की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, "किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख, उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।" कितनी स्पष्ट और सुगठित परिभाषा है! जिस बात का अनुभव अपने हृदय में करके हम कहते हैं कि हमें अमुक व्यक्ति के प्रति श्रद्धा हो गई है, उसे शुक्लजी ने भाषा का रूप देकर बड़ी चतुरता से अभिव्यक्त कर दिया है। शुक्लजी द्वारा की गई 'श्रद्धा' की परिभाषा को हम ज़रा सरल करके समझने का प्रयास करते हैं। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम देखते हैं कि एक व्यक्ति में सामान्य व्यक्ति की तुलना में कुछ असामान्य गुण हैं अथवा कोई असाधारण शक्ति है, तो हमारे हृदय में उस व्यक्ति के प्रति एक स्थायी आनन्द-भावना समा जाती है, उसी स्थायी आनन्द-भावना को श्रद्धा की संज्ञा दी जाती है। हम उस व्यक्ति के महत्व को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं। यही नहीं उस व्यक्ति के प्रति हमारे चित्त में पूज्य बुद्धि का संचार होने लगता है। हम उसे पूज्य समझने लगते हैं। हम आनन्द के साथ उसके गुणों का बखान करते हैं। उसके सामने

आने पर आदरपूर्वक सिर झुका लेते हैं। कोई स्वार्थ अथवा लाभ-भावना के न रहते हुए भी हम उसकी कल्याण-कामना करते हैं। दूसरे व्यक्तियों द्वारा उसकी निन्दा हमारे लिए असह्य हो जाती है, क्योंकि इससे हमारे हृदय में स्थापित अनन्द भावना को आघात पहुँचता है। इससे सिद्ध होता है कि जिन कामों के प्रति हमें श्रद्धा होती है, उनकी संसार को आवश्यकता है। "यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।" ऐसी शुक्ल जी की धारणा है।

जिस समय हमें किसी व्यक्ति के प्रति कुछ लगाव सा हो जाता है और उसके विषय में सोचते हुए कुछ आनन्द का अनुभव होता है, तो हम अपने इस आनन्द को व्यक्त करने के लिए 'प्रेम' और 'श्रद्धा' इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं और प्रायः इन शब्दों का अशुद्ध प्रयोग कर जाते हैं। शुक्ल जी ने हमारे मार्ग प्रदर्शन के लिए इन दोनों में निहित सूक्ष्म अन्तर को बड़ी सफाई से स्पष्ट कर दिया है। शुक्ल जी लिखते हैं—"प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे; पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बड़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो।" किसी की सुन्दर आँख या नाक देख कर उस के प्रति श्रद्धा नही उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। शुक्ल जी आगे लिखते हैं कि, "श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत प्रेम में घनत्व अधिक है, श्रद्धा में विस्तार।" किसी व्यक्ति से एक दो व्यक्तियों को प्रेम हो सकता है, पर उस पर श्रद्धा रखने वालों की संख्या लाखों करोड़ों तक हो सकती है। शुक्ल जी के अनुसार "प्रेम यदि स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। अपने प्रेमी का चिन्तन हम आँख मूँद कर, संसार को भुला कर करते हैं, किन्तु श्रद्धेय का

चिन्तन हम आँखें खोल कर, संसार का कुछ अंश सामने रख कर कर सकते हैं। प्रेमी और प्रिय संसार से अलग रहना चाहते हैं। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता, मध्यस्थ की उपस्थिति उन्हें खलती है, परन्तु श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच किसी मध्यस्थ का होना आवश्यक है। किसी कवि के काव्य को पढ़ कर यदि हमारे चित्त में उसके प्रति एक सुहृद्-भावना उत्पन्न हो जाती है, तो हम कह सकते हैं कि हमें उसके प्रति श्रद्धा हो गई है, क्योंकि उसका काव्य हमारे और कवि के बीच मध्यस्थ बन कर आता है। इसके पश्चात् शुक्ल जी प्रेम और श्रद्धा के कारण की विवेचना करते हुए कहते हैं कि प्रेम का कारण न्यूनाधिक अज्ञात रहता है, जब कि श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी कभी केवल एक साथ अथवा आमने-सामने रहते हुए दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे सदा एक साथ रहें और उनका साथ कभी न छूटे! श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक जाती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई फिर उसके कर्मों आदि पर जाती है। पहले प्रेमी से प्रिय का साक्षात्कार होता है, इसके पश्चात् प्रेमी के हृदय में यह इच्छा रहती है कि उस का प्रिय सदा उस के सामने रहे, वह उस का उठना-बैठना, चलना-फिरना, खाना-पीना देख सके। श्रद्धा में श्रद्धालु पहले श्रद्धेय के कर्मों को देखता या सुनता है, इस के पश्चात् उसकी दृष्टि श्रद्धेय पर जाती है। एक में व्यक्ति द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरे में व्यक्ति के कर्मों द्वारा। एक में व्यक्ति प्रधान है, दूसरे में कर्म। इसके बाद शुक्ल जी प्रेम और लोभ का अन्तर स्पष्ट करते हैं और यह भी बताते हैं कि लोभ कब प्रेम में परिणत होता है। जब हम किसी के रूप

सौंदर्य को स्वयं न देख कर, किसी के मुख से उस की प्रशंसा सुनते हैं, तो उस समय चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ता। कुछ समय तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा। इस के बाद वह प्रेम में परिणत हो सकता है। श्रद्धा में यह बात अनिवार्य नहीं। श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव के आधार पर भी हमारे मन में जाग सकती है। जब हम किसी के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर 'वाह वाह' करते जाएँगे, तब तक हमारे चित्त में लोभ का भाव हो रहेगा। हम लोभी अथवा रीझने वाले ही कहलाएँगे, परन्तु जिस समय हम उसके सौंदर्य-दर्शन के लिए आकुल हो उठेंगे, उसका चिरसामीप्य चाहने लगेंगे, उस समय हमारा लोभ, प्रेम का रूप धारण कर लेगा। प्रेमी अपने प्रिय पर अपना पूर्ण अधिकार चाहता है, पर श्रद्धालु अपने श्रद्धेय पर किसी प्रकार की अधिकार भावना नहीं रखता।

शुक्ल जी श्रद्धा को एक सामाजिक भाव मानते हैं। श्रद्धा प्रतिदान नहीं चाहती। हम अपने श्रद्धेय से बदले में अपने लिए कुछ नहीं चाहते। "श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि रूप में प्रकट करते हैं।" प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसी रूप में उसे सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध अथवा घृणा प्रकट करने का पूर्ण अधिकार समाज ने दे रखा है। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता इसी से भलीभाँति समझी जा सकती है कि जिस पर हम श्रद्धा-भाव रखते हैं, हम चाहते हैं कि दूसरे व्यक्ति भी उसी प्रकार उस पर श्रद्धा रखें। परन्तु जिस से हम प्रेम करते हैं, उस के लिए हम कभी नहीं चाहेंगे कि अन्य लोग भी उस से हमारी तरह प्रेम करें—प्रेम करना तो दूर रहा, हम यह भी नहीं चाहेंगे, कि

हमारे प्रिय पर कोई ललचाई आँखों से भी देखें। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि श्रद्धालु अपने श्रद्धा भाव में सारे संसार को भाग लेने का निमन्त्रण देता है, परन्तु प्रेमी केवल अपने को ही। कृतज्ञता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि व्यक्तिगत उपकार के प्रति जो भाव उत्पन्न होता है, उसे कृतज्ञता कहा जाता है और सर्वसामान्य के प्रति किये हुए उपकार से उत्पन्न भाव श्रद्धा के अन्तर्गत आता है। श्रद्धा में दूसरे के महत्त्व को स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि स्वार्थी और संकुचित विचारों वाले व्यक्तियों में श्रद्धा, जैसे पवित्र भाव का कोई स्थान नहीं होता। उन्हें अभिमानवश अपनी प्रशंसा से ही अवकाश नहीं मिलता, दूसरों के महत्त्व की प्रशंसा वे क्या करेंगे ?

स्थूल रूप से आचार्य ने श्रद्धा के तीन रूप बतलाए हैं :—

(१) प्रतिभा-सम्बन्धिनी,

(२) शील-सम्बन्धिनी,

(३) साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

(१) प्रतिभा-सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए शुक्ल जी श्रद्धालु में निपुणता और गुण-ग्राहकता का होना अनिवार्य समझते हैं। यदि किसी उच्च-कोटि के काव्य अथवा उत्तम चित्र की उत्कृष्टता न समझने के कारण हम कवि अथवा चित्रकार के प्रति श्रद्धा न रख सकें तो यह हमारा अनाड़ीपन और अयोग्यता होगी। इस में हमारे रुचि परिष्कार की त्रुटि प्रकट होती है। इसी लिए शुक्ल जी ने समाज में रुचि-संस्कार पर जोर देते हैं। रुचि के परिष्कृत होने पर ही हम किसी कला-कृति की प्रशंसा करने में समर्थ हो सकेंगे।

(२) शील-सम्बन्धिनी-श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है,

ऐसी शुक्ल जी की धारणा है । सदाचार के प्रति श्रद्धा दिखाने वाला व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। शुक्ल जी के शब्दों में :—"जन-साधारण के लिए शील का ही सब से पहले ध्यान होना स्वाभाविक है; क्योंकि उस का सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है।" उस के अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिस में कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-सम्पत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।" इस प्रकार शुक्ल जी शील-सम्बन्धिनी श्रद्धा को प्रथम स्थान देते हैं । श्रद्धा के मूल में सर्वसामान्य के हित की भावना निहित रहती है, जो शुक्ल जी के अनुसार, धर्म का आधार-स्तम्भ है। इसी लिए शुक्ल जी श्रद्धा को धर्म का प्रथम सोपान मानते हैं। कर्म उस के आगे का सोपान है। मनुष्य किसी उच्च आदर्श वाले व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रख कर ही आगे कर्म करने को तयार होता है।

(३) साधन-सम्पत्ति से शुक्ल जी का तात्पर्य विशेष प्रकार के प्रयत्न अथवा योग्यता से है । इस सम्बन्ध में जो श्रद्धा दिखाई जाती है, वह साधन-सम्पन्नता के प्रति होती है, साध्य की पूर्णता अथवा कला के प्रति नहीं। जब हम किसी चित्रकार के अद्भुत चित्र को देखते हैं तो अपनी श्रद्धा, हम उस चित्र के बनाने में किए गए प्रयत्न के प्रति प्रकट करते हैं। उस से कला का आदर्श पूर्ण नहीं होता। कुरुचिपूर्ण भावनाओं को व्यक्त करने वाले काव्यकार पर भी कुछ लोग श्रद्धा रखने वाले मिल जाएँगे, परन्तु ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है, वह उन की साधन-सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं। केवल उस के अभ्यास, श्रम, और बारीकी

(अर्थात् उस की साधन-सम्पन्नता) ही श्रद्धा का भाजन बन सकते हैं, कला के विचार से उस के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि कला का उद्देश्य तो मानव-हृदय पर मधुर प्रभाव डालना है। शुक्ल जी का कथन है कि इस साधन-सम्पन्नता का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग अथवा अनुपयोग भी। उन के विचार में यह अनुपयोगी साधन-सम्पन्नता लोक-हित कभी नहीं कर सकती। श्रद्धांधता को शुक्ल जी "मानसिक-स्तब्धता" बताते हैं। यदि किसी को शारीरिक बल पर श्रद्धा है, तो वह इस शारीरिक बल का दुरुपयोग देख कर भी पूर्ववत् बनी रहेगी। यह श्रद्धांधता जब सदाचार और शील का हनन करने लगती है तो समाज का अनिष्ट कर सकती है। शुक्ल जी शील, कला और साधन-सम्पन्नता, श्रद्धा के इन तीन विषयों में से, शील की ओर जनसाधारण का ध्यान होना अनिवार्य मानते हैं क्योंकि उसी से लोक-कल्याण-भावना की स्थिति रह सकती है।

शुक्ल जी संसार में श्रद्धा का होना अत्यावश्यक मानते हैं। दूसरों की श्रद्धा से जीवन की कठिनता में कमी आ जाती है, मनुष्य के कार्य सुगम हो जाते हैं। जिस व्यक्ति पर लोगों की अश्रद्धा हो जाती है, उस का जीवन कठिनाइयों से भर जाता है, उस की प्रगति रुक जाती है। परन्तु समाज में इन अच्छे गुणों के चोर भी घात लगाए बैठे रहते हैं। ऐसे लोग श्रद्धा आदि शुभ गुणों का झूठा ढोंग रच कर अपने क्षुद्र स्वार्थों एवं तुच्छ मानसिक वृत्तियों की तृप्ति करते हैं। ऐसे लोग संसार को धोखा देने वाले होते हैं। शुक्ल जी का कथन है कि समाज को ऐसे लोगों से सदा सावधान रहना चाहिए। यही नहीं, उन को सामाजिक दण्ड देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। कुछ व्यक्तियों को श्रद्धा का व्यसन भी पड़ जाता है। वे पर-श्रद्धा को मनोरंजन

अथवा मानसिक भोग-विलास की सामग्री समझते हैं। परन्तु समाज की श्रद्धा ऐसे अपव्यय के लिए नहीं है। समाज-हित उस का प्रयोजन होना चाहिए।

श्रद्धा के तीनों भेद :— शील, प्रतिभा और साधन-सम्पन्नता इन तीनों से समाज का कोई न कोई अंग विकास पाता है। शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रञ्जन, और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-विकास दोनों की संभावना रहती है। श्रद्धेय समाज की स्थिति अथवा समाज के सुख का विधान करता है और समाज उस की स्थिति और सुख का उत्तरदायित्व सँभालता है। श्रद्धा का जो दान, समाज, श्रद्धेय को देता है, उस से श्रद्धेय को शक्ति मिलती है जिस से अन्ततः समाज पोषित होता है। समाज के लिए श्रद्धा की उपयोगिता है। श्रद्धा की इस उपयोगिता के कारण ही हमारे धर्म-ग्रंथों में श्रद्धावश दिए गए दान की इतनी महत्ता स्थापित की गई है।

'भक्ति' की परिभाषा देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं :— "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम 'भक्ति' है।" भक्ति का उदय इन दोनों भावों के मिलन से सम्भव होता है। जब तक ये दोनों भाव एक दूसरे से बिछड़े रहते हैं, तब तक भक्ति-भावना जन्म नहीं लेती। प्रेम और श्रद्धा के विषय में हम पहले विवेचना कर आए हैं। श्रद्धा में पूज्य-बुद्धि अनिवार्य होती है और प्रेम में प्रिय का सामीप्य-लाभ। अतः जब पूज्य-बुद्धि के साथ श्रद्धेय के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, श्रद्धेय की सत्ता के अनेक रूपों के साक्षात्कार की कामना हो, उस समय हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन-क्रम का कुछ अंश अपने श्रद्धेय को अर्पित करने को तत्पर हो जाते हैं और उस के जीवन-क्रम पर अपना भी कुछ

प्रभाव रखना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि "भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।" शुक्ल जी सच्चे भक्त के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करते हैं :—"भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत कुछ अंश स्वार्थ (परिवार या शारीरिक सुख आदि) से विभक्त कर के किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं। इसी का नाम आत्म-निवेदन है।" किसी महात्मा पर जब हम केवल श्रद्धा मात्र रखते हैं, तो बहुत करेंगे हम उस की कुछ आर्थिक सहायता कर देंगे, उस के रहने का कुछ सुभीता कर देंगे, परन्तु उसी महात्मा के भक्त बन कर हम अपना सब कुछ उस को अर्पण कर देने के लिए तत्पर हो जाएँगे। भक्त अपने भक्ति-भाजन के सामाजिक महत्त्व और प्रभाव को बढ़ाता है और स्वयं भी उस के थोड़े-बहुत अंश का भागी बनता है—अर्थात् उस का भी सामाजिक प्रभाव एवं महत्त्व बढ़ता है। भक्त प्रवर हनुमान् ने राम की अनन्य भक्ति कर के अन्य राम-भक्तों को अपना भी भक्त बना लिया। केवल श्रद्धा द्वारा हम किसी के महत्त्व के किसी भी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते, किन्तु भक्ति द्वारा हो सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं, जैसा हनुमान जी ने किया। श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, परन्तु भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है।

भक्ति में भक्ति-भाजन के महत्त्व की स्वीकृति के साथ अपने लघुत्व को स्वीकार करना पहली बात है। भक्त क्रमशः अपने श्रद्धेय की महत्त्व-पूर्ण बातों को अपने में विकसित देखना चाहता है और उस के महत्त्व के विपरीत बातों का त्याग करने का प्रयास करता है।

व्यक्ति-सम्वन्ध-हीन अर्थात् निराकार सिद्धान्त-मार्ग वुद्धि को चाहे प्रभावित करें, मन को नहीं करते। मनुष्य नीरस और शून्य सिद्धान्तों को व्यर्थ समझता है। उस का मन उन की ओर आकर्षित नहीं होता। मन को रमाने के लिए अनुभूति का होना परम आवश्यक है। कोरे सिद्धान्तों और गुणों में मन को कार्य करने की प्रेरणा देने और रोकने की क्षमता नहीं। "सदा सत्य वोलो", "दूसरों की भलाई करो" कह कर किसी को सत्य वोलने और भलाई करने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता। मन तो गुणों और सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष आश्रय और परिणामों में रमता है। अनुभवात्मक मन को आकर्षित करने वाले आश्रय और परिणाम हैं, गुण नहीं। ये ही अनुभूति के विषय है। अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी। मन को आकर्षित करने के लिए शील और शक्ति के आश्रय होने चाहिएँ। शील और शक्ति-सम्पन्न चरित्रों का सम्पर्क सत् की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्तियों के लिए हितकारी होता है। आचार्य शुक्ल जी का कथन है कि इष्टदेव का यह सामीप्य-लाभ केवल उस के साथ-साथ लगे रहने से ही नहीं वरन् अन्य विधानों द्वारा भी हो सकता है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भी सामीप्य-लाभ ही के विधान हैं। इस प्रकार इष्ट का यह सामीप्य-लाभ भीतरी और वाहरी दोनों विधानों द्वारा सम्भव है। स्मरण द्वारा हम अपने आराध्यदेव को—उस के कर्म-क्षेत्र को—अपने अन्तःकरण के सामने उपस्थित कर सकते हैं। इष्ट देव के कर्म-क्षेत्र को सामने लाने पर कुछ ऐसे लोग भी आ जाएँगे जो हमारी भक्ति के भाजन नहीं हैं। जैसे राम के कर्म-क्षेत्र को अन्तःकरण के सामने लाने पर रावण भी उपस्थित हो जाता है। शुक्ल जी कहते हैं, राम के साथ रावण की भी उपयोगिता है। रावण के

रहने पर ही राम के स्वरूप का पूर्ण विकास दिखाई देता है। एक में हम प्रवृत्ति का क्रम अपने लिए पाते हैं और दूसरे में निवृत्ति का। अनुभूति पर निवृत्ति और प्रवृत्ति निर्भर हैं। और जीवन में इस निवृत्ति-प्रवृत्ति का प्रवाह साथ-साथ चलता रहता है। शुक्ल जी के मतानुसार पाप का फल छिपाने वाला पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी है। उन की यह धारणा है कि पापियों और दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही—संसार में धर्म की मर्यादा की स्थापना करने के लिए ही—श्री कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया था। यदि अधर्म में लगे हुए कौरवों का नाश न होता और पांडव जीवन भर भटकते ही फिरते, तो संसार में अन्याय और अधर्म की एक अमिट लीक खिच जाती। उन के मतानुसार समाज में धर्म की नींव पापी के पाप के फल पर ही रखी जाती है। लोक-कल्याण के लिए यह परमावश्यक है। पापी को उस के पाप का सत्वर फल देना ही न्याय है। समाज में पाप और अन्याय को वढ़ता देख कर उस के नाश का प्रयत्न न करना शुक्ल जी की लोक-संग्रह-परक-दृष्टि में 'आलस्य' या 'कायरपन' है।

मानव के अन्त:कारण की जितनी भी वृत्तियाँ हैं, शुक्ल जी की दृष्टि में उन सब की उपयोगिता है, सार्थकता है, उन में कोई भी वृत्ति निरर्थक नहीं है। किसी भी वृत्ति की शक्ति फालतू नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता इन्हीं वृत्तियों पर आधारित है। इसी आधार पर भगवद्भक्ति में इन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य को अपनी अनुभूति द्वारा ही ईश्वर की अनुभूति हो सकती है। मनुष्य अपने मनोभावों और कर्मों का विकसित एवं पूर्ण रूप ईश्वर में देखता है और उसे अपने से श्रेष्ठ समझता है। अपने अन्त:करण में पाई जाने वाली वृत्तियों- दया, धर्म, प्रेम,

कर्म, शील आदि को ईश्वर में विकसित रूप में देख कर उस की भक्ति करता है और अपने में भी इन का विकास करने को तत्पर रहता है। भक्ति हृदय की वस्तु है। मानव जब अपनी भावनाओं की पूर्णता ईश्वर में देखता है तो वह उस से सामीप्य-लाभ करने के लिए, उस से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अग्रसर होता है। उस का इस प्रकार अग्रसर होना सामीप्य-लाभ है। इस प्रकार सामीप्य-लाभ करने के नौ साधन—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन हमारे यहाँ भक्ति-विधान के अन्तर्गत बताए गए हैं। शुक्ल जी के विचारानुसार रामलीला, कृष्ण लीला आदि भी सामीप्य-सिद्धि के विधान हैं। इन लीलाओं में हम भगवान् राम और कृष्ण के जीवन में अपने जीवन का पूर्ण प्रकाश देख कर उन्हें अपने अत्यन्त निकट अनुभव करने लगते हैं। शुक्ल जी के कथनानुसार इन्हीं की भक्ति के बल से हिन्दू जाति इतनी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाती चली आई है—इन्हीं की अद्‌भुत आकर्षण-शक्ति से वह इधर-उधर ढलने नहीं पाई है। राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाए छोड़ना हिन्दू-जाति के लिए सहज नहीं था, क्योंकि ये अवतार अलग टीले पर खड़े हो कर उपदेश देने वाले नहीं थे, बल्कि मानव-जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित हो कर उस के एक-एक अंग की मनोहरता दिखाने वाले थे।" जो व्यक्ति उन के नाम से पुलकित होता है, उन के स्वरूप पर मोहित होता है, उस के सुधार की आशा हो सकती है और जो लोग संसार या मनुष्यत्व का सर्वथा त्याग न करदें, उन के लिए शुद्ध-सात्त्विक जीवन का यही मार्ग है। इस के लिए उन्हें अपने रागों एवं इच्छाओं के सम्पूर्ण दमन की आवश्यकता नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि में रागों के दमन की अपेक्षा उन का

परिष्कार अधिक लाभदायक है। उन का कहना है कि रागों का दमन कर के दूसरे व्यक्तियों का गला काटने वालों से रागों का परिष्कार कर के दूसरों की भलाई करने वाले व्यक्ति लोक-कल्याण की दृष्टि से कहीं अच्छे हैं।

शुक्ल जी के कथनानुसार कर्म-सौंदर्य के जितने रूप क्षात्र-धर्म में उपलब्ध होते हैं, उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं। क्षात्र-धर्म एकान्तिक नहीं है। उस का सम्बन्ध लोक-रक्षा से है। वह जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करता है। क्षात्र-धर्म की इसी व्यापकता के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। कर्म-सौंदर्य के विभिन्न रूप——शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुःख-कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि—और कहाँ मिलेंगे ? हमारे अवतारों में कर्म-सौंदर्य के इन उत्कृष्ट रूपों का ही यह परिणाम है कि वे आज तक हमारे आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं और हमारी रागात्मक वृत्तियों के विकास में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। क्षात्र-धर्म-पालन की आवश्यकता संसार में सदा बनी रहेगी।

---

# "करुणा"

करुणा की परिभापा आचार्य इस प्रकार करते हैं, "जव वच्चे को सम्वन्धज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है, तभी दु:ख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे 'करुणा' कहते हैं।" परिभापा से स्पष्ट यह होता है कि करुणा दु:ख का एक भेद है। दूसरे, करुणा के भाव का जन्म वचपन में उस समय से ही हो जाता है जिस समय वच्चे को दूसरों से अपने सम्वन्ध का ज्ञान हो जाता है। वालक विना किसी वौद्धिक-विवेचना के, स्वाभाविक रूप में अपने अनुभवों का दूसरे प्राणियों पर आरोप करता है। धीरे-धीरे, जव उसे कार्य-कारण सम्वन्ध का ज्ञान हो जाता है, तव वह दूसरे व्यक्तियों के दु:ख का कारण अथवा कार्य देख कर उनके दु:ख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दु:ख अनुभव करता है। उदाहरण स्वरूप, हम प्राय: देखते हैं कि जव माँ "ऊँ-ऊँ" कर के रोने का अभिनय करती है, उस समय उसे ऐसा करते देख कर कई वालक फूट-फूट कर रोने लगते हैं। करुणा जिस के प्रति उत्पन्न होती है, उसकी हम भलाई करना चाहते हैं और जिस के प्रति हमें क्रोध होता है, उसकी हानि करने की चेष्टा हम करते हैं। इस प्रकार मानव-प्रवृत्ति की दृष्टि से, करुणा का विपरीत 'क्रोध' है। प्रसन्न हो कर तथा दु:खी हो कर, हम दोनों रूपों में भलाई करने की चेष्टा करते है। अन्तर केवल यह है कि आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है, जो पात्र की हानि को उत्तेजित करे, पर दु:ख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की

उत्तेजना करता है। लोभ को शुक्ल जी आनन्द की श्रेणी में रखते हैं। उनका कहना है कि जिस वस्तु पर हमें लोभ होगा, हम उस की हानि कभी नहीं चाहेंगे। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफ़गन को तो मरवा डाला, परन्तु नूरजहाँ को बड़े प्यार से रखा। लोभी महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को तो तोड़ा, पर उसके भीतर प्राप्त हीरे जवाहरात को सँभाल कर ले गया।

समाज के सम्पर्क में आने पर व्यक्ति के सम्बन्ध बढ़ कर अत्यन्त व्यापक हो जाते हैं। स्वभावतः वह दूसरों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है। मनुष्य के सुख और दुःख का बहुत सा अंश दूसरों द्वारा दिया हुआ होता है। परन्तु एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि मनुष्य दूसरों के दुःख से जितना दुःखी होता है, सुख से उतना सुखी नहीं होता। अतः दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है, सीमित है। करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की आवश्यकता नहीं होती, पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देख कर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद् या सम्बन्धी हो, अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान् या चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो।

मानव-प्रकृति में शील और सात्त्विकता का संस्थापक मनोविकार 'करुणा' है। करुणा एक शुभ एवं सात्त्विक भाव है। जीवन-व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि करुणा सदा दुःख दूर करने के लिए प्रेरित करती रहती है। दूसरों के दुःख से दुःखी हो कर उस दुःख को दूर करने का प्रयत्न करना शील और सात्त्विकता के लक्षण हैं। आचार्य शुक्ल जी मानते हैं कि मानव-प्रकृति में शील और सात्त्विकता को विकसित करने के

लिए करुणा की अनिवार्यता मनोविज्ञान के क्षेत्र में सिद्ध हो चुकी है। मनुष्य जब दूसरों के सम्पर्क में आ कर व्यवहार करता है तो उसकी सज्जनता या दुर्जनता का पता चलता है। परन्तु शुक्ल जी के मतानुसार निर्जन में एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के कार्य निर्लिप्त माने जाएँगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख में प्रवृत्ति है। अतः सभी प्राणियों के उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य भी सुख की स्थापना और दुःख का निराकरण हुआ। अतः मनुष्य के आनन्द-विधायक कार्यों को शुक्ल जी उत्तम कार्य मानते हैं।

मनोविज्ञान के अनुसार दुःख की भावना एक विशेष प्रकार का मनोविकार है, परन्तु जब हम इस बात का ध्यान रखते हैं कि हमारे किसी कर्म से दूसरे को दुःख न पहुँचे, तो यह हमारे शील का कारण होता है। यही शील दूसरों को कष्ट पहुँचाने से रोकता है। इस लिए शील की विद्यमानता शुक्ल जी प्रत्येक व्यक्ति में अनिवार्य रूप से मानते हैं। साधारण बोल-चाल की भाषा में "शील" से "चित्त की कोमलता और नम्रता" का अर्थ लिया जाता है। परन्तु कभी-कभी एक शीलवान् व्यक्ति को पर-दुःख-भंजन के लिए झूठ तक बोलना पड़ता है। हम उसके इस असत्य-भाषण को दुःशीलता नहीं कहेंगे। इस प्रकार का झूठ कल्याण का विधायक होता है। इस झूठ बोलने का उद्देश्य किसी का जी दुखाना अथवा अपमान करना नहीं होता। इस शील की मनोवृत्ति के मूल में भी करुणा की भावना होती है। करुणा कल्याण-विधायक होती है, अतः शील में भी इस कल्याण-भावना की स्थिति स्वाभाविक है।

समाज-कल्याण-भावना को दृष्टि में रख कर शील और

करुणा के विधायक कुछ नियमों की स्थापना विद्वानों ने कर रखी है। शुक्ल जी इन नियमों का पालन आवश्यक समझते हैं। परन्तु शुक्ल जी के विचारानुसार इन्हें नियमों के अन्तर्गत ही रखा जाएगा, शील अथवा सद्भाव के अन्तर्गत नहीं, क्योंकि शील या सद्भाव अन्तःकरण की एक सात्त्विक वृत्ति होती है और ये नियम बाहर से आरोपित होते हैं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं, इस लिए 'सदा सत्य बोलने' का नियम बनाया हुआ है। शुक्ल जी के असत्य-भाषण की शर्त समाज अथवा लोक-कल्याण है। इस लिए वे आपत्काल में लोक-मंगल की भावना से प्रेरित हो कर असत्य-भाषण का पक्ष लेते हैं। उनकी दृष्टि में "यदि झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाए तो ऐसा झूठ बोलना भी बुरा नहीं है। इसी लिए शुक्ल जी सत्य बोलने के नियम को शील अथवा सद्वृत्ति नहीं मानते। मनुष्य के अन्तःकरण में शील और सात्त्विकता के संस्थापक ये नियम नहीं हो सकते। ये नियम सामाजिक बन्धन हैं और शील और सात्त्विकता अन्तःकरण की भावना। इस भावना का जन्म उसी हृदय में हो सकता है जो करुणा और लोक-कल्याण-भावना से ओत-प्रोत हो। यही कारण है कि शुक्ल जी सात्त्विकता और शील की मूल प्रेरक शक्ति करुणा में मानते हैं। अपनी बात के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने बौद्धों, जैनियों एवं गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवन-दृष्टियों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

इस के पश्चात् आचार्य शुक्ल जी करुणा और सहानुभूति का अन्तर स्पष्ट करने के लिए सहानुभूति की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—"दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेग-रहित दुःख होता है, उसे सहानुभूति

कहते हैं।" सहानुभूति में भी एक प्रकार का दुःख होता है, पर उस दुःख में वेग अथवा तीव्रता नहीं होती। शुक्ल जी के मतानुसार शिष्टाचार में आज-कल इस शब्द का इतना आडम्बरपूर्ण प्रयोग बढ़ गया है कि यह शब्द निरर्थक सा हो गया है। आज कल इसे हृदय का कोई सच्चा भाव न समझ कर केवल शिष्टाचार के लिए प्रयुक्त एक विशेष शब्द मात्र समझा जाता है।

शुक्ल जी के कथनानुसार मानव की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। उनकी दृष्टि में नीतिज्ञों और धर्म-शास्त्रियों का भावों के दमन का उपदेश केवल पाखण्ड है। इस विषय में वे कवियों की सराहना करते हैं जो भावों को तीव्र और परिमार्जित करते हैं। आज की बुद्धिवादी-सभ्यता में इन मनोविकारों का निर्वाह पूरी तरह नहीं हो रहा है। शुक्ल जी के कथनानुसार मनोवेगों का नाश समाज और मानव के लिए अनिष्टकारी है। उनका कथन है कि स्मृति और अनुमान केवल भावों के सहायक हैं। जीवन-व्यवहार में यदि मनोवेग नहीं रहेंगे, तो स्मृति, अनुमान और बुद्धि के रहते हुए भी मानव जड़वत् हो जाएगा। उनके कथनानुसार, व्यावहारिक जीवन में करुणा आदि मनोवेगों का विरोध प्रायः तीन बातों—आवश्यकता, नियम और न्याय—में पाया जाता है। इसके पश्चात् वे करुणा-प्रदर्शन में त्याग का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। 'करुणा सेंत का सौदा नहीं, करुणा प्रकट करने वाले को कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना पड़ता है। त्याग करने में असमर्थ व्यक्ति, करुणा नहीं कर सकता।

————

# लज्जा और ग्लानि

हम समाज में रहते हैं, और इसी नाते हमें यह ध्यान सदा बना रहता है कि लोग हमारे विषय में क्या सोचते हैं ? अपने विषय में दूसरों के विचारों एवं धारणाओं का ध्यान हमें हमेशा रहता है। हमारी इसी वृत्ति के आधार पर 'लज्जा' की उत्पत्ति होती है। शुक्ल जी इस मनोविकार की परिभाषा इस प्रकार करते हैं :—'दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका-मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उन की स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं।" अर्थात् जब हमें यह निश्चय अथवा आशंका हो जाती है कि लोग हमारे सम्बन्ध में अच्छी धारणा नहीं रखते; हमारे किसी पाप या बुरे काम का उन्हें पता लग गया है, तो हमारे हृदय में व्याप्त वृत्तियाँ कुछ संकुचित होने लगती हैं, हमें लोगों के सामने जाने में कुछ संकोच का अनुभव होने लगता है। इसी संकोच का नाम लज्जा है। लज्जा का कारण 'दूसरों' का निश्चय अथवा अनुमान होता है, हमारा अपना निश्चय अथवा अनुमान नहीं। वन से लौटने पर राम चन्द्र कैकयी से मिले। तुलसीदास जी कैकेयी की लज्जा का चित्रण इन शब्दों में करते हैं—

'रामहिं मिलत कैकेयी हृदय बहुत सकुचानि।"

लज्जा और ग्लानि में अन्तर स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं :—"विशुद्ध लज्जा अपने विषय में दूसरे की ही भावना पर दृष्टि रखने से होती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता

इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं।" आगे शुक्ल जी लिखते हैं कि ग्लानि का अनुभव केवल उन लोगों को होता है जिन के हृदय सत्त्व-प्रधान और जिन के संस्कार परिष्कृत होते हैं। दुष्ट और मलिन-हृदय व्यक्ति ग्लानि का अनुभव नहीं कर सकता। ग्लानि का अनुभव हमें उस समय होता है जब हम ने कोई बुरा काम किया है और हम उस बुराई का अकेले अनुभव करते हुए अपने भीतर कुछ वृत्तियों का संकोच सा पाते हैं। लज्जा हमें दूसरों के सामने जाने से आती है और ग्लानि हमें अपने से ही। इसी बात को आचार्य शुक्ल जी इस प्रकार व्यक्त करते हैं:—'हम अपना मुँह न दिखा कर लज्जा से बच सकते हैं, पर ग्लानि से नहीं। कोठरी में बन्द, चारपाई पर पड़े-पड़े, लिहाफ़ के नीचे भी लोग ग्लानि से गल सकते हैं।" शुक्ल जी ग्लानि को अन्तःकरण की शुद्धि का एक विधान समझते हैं। ग्लानि में अपनी बुराई, तुच्छता, मूर्खता आदि का अनुभव कर के जो संताप होता है, वह अकेले में भी व्यक्त किया जाता है और दस आदमियों के सामने प्रकट भी किया जा सकता है। उस में दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। शुक्ल जी के कथनानुसार ग्लानि, "अपने दोष का अनुभव, अपने अपराध की स्वीकृति, आन्तरिक अस्वस्थता का उपचार तथा सच्चे सुधार का द्वार है।" जब तक हम अपने विषय में यह नहीं सोचेंगे कि हम बुरे हैं, तब तक अच्छाई की ओर अग्रसर नहीं हो सकते; अच्छे नहीं बन सकते। परन्तु आत्म-ग्लानि का यह अनुभव केवल उन्हीं व्यक्तियों को होता है जिन के अन्तःकरण में अच्छे संस्कारों का जन्म होता है।

जब मनुष्य बुराई से बचने का संकल्प कर लेता है तो

शुक्ल जी के कथनानुसार उसे तीन मनोविकार बुराई से बचाने में सहायक होते हैं :—

(१) सात्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि।

(२) राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा।

(३) तामसी वृत्ति वालों के लिए भय।

जिन व्यक्तियों को अपने किए हुए दुष्कर्मों पर ग्लानि नहीं होती, वे लोक-लज्जा से और जिन को लोक-लज्जा की भी परवाह नहीं होती, वे भय से, कुछ कामों को करते हुए हिचकिचाते हैं।

मनुष्य लोक-बद्ध प्राणी है। उसे जितनी लज्जा अपने कर्मों पर होती है, उतनी ही अपने से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के बुरे कर्मों पर भी। कभी-कभी किसी बुरे प्रसंग में उस का ज़रा सा भी नाम आ जाए, तो भी उसे लज्जा का अनुभव होता है, पर ग्लानि अपनी हीनता एवं तुच्छता के अनुभव पर होती है। आचार्य जी का कथन है कि उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी कड़ुए फल पर। दुष्कर्म के अनेक फल हो सकते हैं, जिन में से अपमान एक है। अपमान को सहने के बाद अपनी तुच्छता और हीनता का अनुभव प्रायः लोगों को होता ही है। कभी-कभी अकारण अपमान पर जो ग्लानि होती है, उस में हमें अपनी तुच्छता और सामर्थ्य-हीनता पर रोना आता है। आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार व्यावहारिक-जीवन में मनुष्य को कम-से-कम इतनी शक्ति का सम्पादन अवश्य कर लेना चाहिए कि लोग अकारण ही हमारा अपमान न कर सकें। लोक मर्यादा की दृष्टि से भी यही उचित है।

आचार्य जी संकोच की परिभाषा देते हुए 'संकोच' को

लज्जा का हल्का रूप बताते हैं। "संकोच इस बात के ध्यान या आशंका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं, वह किसी को अप्रिय या बेढङ्गा तो न लगेगा, उस से हमारी दु:शीलता या धृष्टता तो न प्रकट होगी।" संकोच का बिल्कुल न होना और आवश्यकता से अधिक होना दोनों ख़राब हैं। मनोभावों की परस्पर अनुकूल स्थिति होने से ही संसार के व्यवहार चलते हैं। आचार्य जी की दृष्टि में संकोच मन का एक आभ्यन्तर प्रतिबन्ध है और इसी लिए संकोच शील का एक प्रधान अंग है। वह सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एक मात्र आधार है। समाज में संकोच-हीन, बड़बोला व्यक्ति कभी सम्मान का पात्र नहीं होता। बाहरी प्रतिबन्ध-मात्र से ही हमारा पूरा शासन नहीं हो सकता। उस के लिए शील-संकोच और सदाचार जैसे भीतरी प्रतिबन्ध अनिवार्य हैं। संकोच के दो भेद किए गए हैं :—(१) विवेचनात्मक संकोच जो प्रयत्न-साध्य होता है। इस का परिचालन बुद्धि द्वारा होता है। इस में प्रवृत्ति को जबरदस्ती रोका जाता है। (२) मन:प्रवृत्त्यात्मक संकोच, जो स्वाभाविक होता है। इस में प्रवर्त्तक मन आप से आप रुकावट उत्पन्न करता है। यह दूसरे प्रकार का संकोच ही सच्चा और वास्तविक है। यही सच्चा प्रतिबन्ध है। संकोच और लज्जा की मात्रा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक रहती है क्योंकि उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रहता है कि उन का बेढंगापन कहीं दूसरों को अप्रिय न लगे।

———

# लोभ और प्रीति

लोभ की परिभाषा देते हुए आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं :—
"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिस में उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही, प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं" जब हम किसी दूसरे की वस्तु का लोभ करते हैं, तो उस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं, जब हमारा लोभ हमारी अपनी ही वस्तु के प्रति जगता है, तो हम उसे दूसरों को देना अथवा उस को नष्ट नहीं होने देना चाहते— हम उस का सामीप्य चाहते हैं, चाहते हैं कि वह हमारे पास ही रहे। अपने पास रख कर उस की रक्षा करना चाहते हैं। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। सुख के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष होते हैं।

आचार्य जी के मतानुसार लोभ का ही विकसित रूप 'प्रीति' है। "विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।" जो लोभ सामान्य अथवा जाति के प्रति होता है, वह लोभ ही रहता है, परन्तु जो लोभ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है, वह प्रीति कहलाता है। अतः लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। किसी वस्तु के रूप-सौंदर्य का बखान सुन कर सर्व-प्रथम जो भाव उत्पन्न होगा, वह लोभ होगा। इसी प्रकार किसी अन्य वस्तु के सौंदर्य की प्रशंसा सुन कर हम

उस पर लुभा जाएँगे। जब तक प्रवृत्ति का व्यभिचार चलता जाएगा, हम लोभी ही कहलाएँगे। जब हमारी वृत्ति एकनिष्ठता प्राप्त कर लेगी, किसी एक ही वस्तु या व्यक्ति पर स्थिर हो जाएगी, तब हम प्रेमी कहलाएँगे। साधारण रूप में जब हमारे मन की ललक किसी वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी व्यक्ति के प्रति होने पर प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अंग है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उस से सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः लोभ आनन्दस्वरूप है। लोभ का दूसरा अवयव है इच्छा। अतः यह इच्छात्मक अवयवी हुआ। किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा का होना भी लोभ के लिए आवश्यक है।

अच्छी लगने वाली वस्तु के सम्बन्ध में हमारा लोभ स्थिति-भेद से दो प्रकार का होता है:-

(१) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा।

(२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है:—

(१) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो।

(२) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

संसार में सब से अधिक विरोध प्रथम इच्छा के प्रति दिखाई देता है। एक वस्तु जो हमें बहुत अच्छी लगती है, जब हम उस की ओर अपना हाथ बढ़ाएँगे अथवा दूसरे लोगों को उस की ओर हाथ नहीं बढ़ाने देंगे, तो बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कर्म पर जाएगा और लोग हमें लोभी कहेंगे। इस विरोध का कारण यह है कि एक ही वस्तु के कई इच्छुक हैं।

जहां बहुत से लोगों के स्वार्थ आपस में टकराते हैं, वहीं यह विरोध उत्पन्न होता है। यदि समाज में लोगों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न हों तो यह स्थिति उत्पन्न न हो। लोभ के लक्ष्य की इसी एकता के कारण आज प्रेम और धर्म का स्थान धन ने ले लिया है। विश्व में एक राष्ट्र धन-लोभ अथवा व्यापार-लोभ के कारण दूसरे राष्ट्र पर हावी होना चाहता है। अतः स्पष्ट है कि वही लोभ बुरा समझा जाएगा जो दूसरे लोगों की सुख-शान्ति में घातक सिद्ध होता है। जहाँ लोभ दूसरों की सुख-शान्ति का घातक नहीं होता, वहाँ अनेक व्यक्ति एक ही वस्तु पर लोभ रख कर आनन्दपूर्वक रह सकते हैं।

शुक्ल जी जन्म-भूमि के प्रेम और देश-प्रेम में भी लोभ का भाव ही बताते हैं। यहाँ स्थान का लोभ रहता है। जिन लोगों में अपनी जन्म-भूमि और देश के प्रति लोभ नहीं है और यदि वे देश-प्रेम की दुहाई देते हैं तो उन का देश-प्रेम कोरी बकवाद अथवा फेशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द-मात्र है। जिन लोगों में देश-प्रेम की भावना नहीं होती, शुक्ल जी के मतानुसार उन में इस भावना का संचार किया जा सकता है। इस का साधन है—परिचय और सान्निध्य। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सान्निध्य लोभ अथवा प्रेम का विधायक है। जिन के सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उन के प्रति लोभ या राग हो जाता है।

वस्तु की प्राप्ति अथवा सान्निध्य की इच्छा पर विचार करने के उपरान्त वस्तु की रक्षा की इच्छा का विवेचन अपेक्षित है। रक्षा का यह इच्छा भी दो प्रकार की होती है :—

(१) अपने अधिकार में रखने की इच्छा।
(२) केवल बने रहने देने की इच्छा।

वस्तु की रक्षा की यह प्रथम इच्छा समाज में खटकने वाली होती है। यहाँ व्यक्ति के केवल अपने अधिकार की वासना प्रबल रहती है जिस का लोग विरोध करते हैं। दूसरे प्रकार की इच्छा श्लाघ्य कही जा सकती है। लोभ का सब से प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा-मात्र की इच्छा का प्रवर्त्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे – उस का अस्तित्व बना रहे; चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। प्रथम इच्छा में केवल हमारे सुख की भावना मात्र मिलती है, दूसरी में वस्तु की रक्षा की वासना प्रबल रहती है।

यहाँ तक लोभ का व्यापक अर्थ लिया गया है। आज-कल 'लोभ' शब्द से प्राय: धन के लोभ का अर्थ समझा जाता है। धन के बिना संसार में रहना सम्भव नहीं। लोभ के दो उग्र लक्षण हैं। एक असंतोष और दूसरे अन्य वृत्तियों का दमन। धन के लोभ में प्राप्ति की इच्छा सदा बनी रहती है, उस में सन्तोष नहीं रहता। लोभी व्यक्ति काम, क्रोध आदि वृत्तियों का दमन कर लेते हैं। लोभी को गालियाँ देने पर भी क्रोध नहीं आएगा। उस के लोभ के सामने किसी रूप-सुन्दरी का रूप-लावण्य कुछ नहीं, वह उस की ओर देखता तक नहीं। यही धन का लोभ जब मानसिक बीमारी बन जाता है तो उदात्त वृत्तियों का नाश कर देता है। कच्चे लोभी कभी अन्य वृत्तियों से प्रभावित हो कर लोभ के मार्ग से हट सकते हैं, परन्त पक्के लोभी कभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते। यह तो हुआ कि धन अथवा किसी वस्तु के प्रति लोभ। आगे हम व्यक्ति के प्रति लोभ का विवेचन करेंगे।

किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति लोभ ही प्रेम की संज्ञा प्राप्त करता है। किन्तु वस्तु-परक-लोभ और व्यक्ति-परक-लोभ में एक विशेष अन्तर रहता है। एक प्राणी का दूसरे प्राणी के प्रति

जो लोभ होता है, उस में हृदय-पक्ष अथवा मनस्तत्त्व का विधान रहता है। प्रेम करने वाले के भी हृदय होता है और जिस से प्रेम किया जाता है, उस के भी एक हृदय धड़क रहा होता है। प्रेमी प्रिय के हृदय में अपने भावों की प्रतिष्ठा करना चाहता है। वे दोनों क्रमशः एक दूसरे की ओर आकर्षित होते जाते हैं और अन्त में एक हो जाते हैं। यहाँ प्रेम का अन्तर्योग होता है जो उस के पूर्ण विकास की अवस्था है। दो हृदयों के इस मिलन से जीवन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है। आचार्य जी ने प्रेम के दो पक्ष माने हैं—एकान्तिक और लोकवद्ध। एकान्तिक प्रेम वह अन्तर्मुखी प्रेम है जो प्रेमी को लोक के कर्म-क्षेत्र से खींच कर केवल दो प्राणियों को एक छोटे से संसार में बन्द कर देता है। उस का उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना—सब उसी घेरे के भीतर सीमित हो जाता है। शुक्ल जी फ़ारसी साहित्य में वर्णित प्रेम और भारतीय साहित्य में वर्णित गोपियों के प्रेम को इसी प्रेम के अन्तर्गत मानते हैं। लोक-वद्ध प्रेम, प्रेम का वह उज्ज्वल एवं मधुर और अनुरंजनकारी स्वरूप है जो अपना प्रकाश जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में डालता है। इस प्रेम के अन्तर्गत प्रेमी स्वयं भी नाना रूपात्मक जगत् में अपने अस्तित्व की सुन्दरता देखता है और अपने प्रिय को भी दिखाना चाहता है। इस प्रेम का कर्म-क्षेत्र एकान्तिक प्रेम के कर्म-क्षेत्र की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत होता है। शुक्ल जी के कथनानुसार भारतीय प्रबन्ध-काव्यों की मूलप्रवृत्ति लोक-जीवन-सम्बद्ध इसी प्रेम की ओर रही है। आदि कवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला और अयोध्या के महलों तक न दिखा कर दण्डकारण्य के व्यापक कर्म-क्षेत्र के बीच दिखाया है। "कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति को विशाल

भुजाओं और कन्धे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध, निविड़ और निर्जन काननों में निःशङ्क विचर रही है।" शुक्ल जी भगवद्भक्ति के लिए इसी लोक-बद्ध-प्रेम के हामी हैं। इस प्रेम के कारण संसार की अनेक वस्तुएँ, जो प्रिय से सम्बन्ध रखती हैं, प्रिय की बन जाती हैं। भक्त इस प्रेम के माध्यम से समस्त संसार से एक रागात्मक-सम्बन्ध में बँध जाता है।

इस के पश्चात् आचार्य जी प्रेमी और प्रिय की पारस्परिक स्थिति पर अपने विचार प्रकट करते हैं। उन का कथन है कि कहीं तो प्रेम दोनों में "सम" रहता है और कहीं पहले एक में उत्पन्न हो कर फिर दूसरे में उत्पन्न होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न हो कर रह जाता है, दूसरे में उत्पन्न ही नहीं होता—अर्थात् 'विषम' रहता है। दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ होती हैं जिन्हें 'करुणा' और 'प्रेम' कहते हैं। दया का, प्रेमी अपनी प्रिया के हृदय में प्रेम जगाने के लिए, साधन रूप में प्रयोग करता है। वह पहले दया जगाने के लिए दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन करता है। उस की यह धारणा रहती है कि दया उत्पन्न हो गई है तो प्रेम भी उत्पन्न हो जाएगा। दया जगाने की इस प्रवृत्ति का उत्कर्ष फ़ारसी शायरी में विशेष रूप में मिलता है जहाँ प्रेमी लोग जीते जी अपने यार के कूचे में अपनी क़ब्र बनवाते हैं। "बेचारा बहुत अच्छा था" प्रिय के मुँह से इस प्रकार के शब्द सुनने की संभावना से प्रेमी लोग अपने मरने की कल्पना बड़े आनन्द से करते हैं। केवल प्रेम जगाने तक ही नहीं, प्रेम-पथ में दया की आवश्यकता सदा बनी रहती है। तुल्यराग की स्थापना होने पर प्रेम सफल कहा जाता है। एकरस की प्रीति केवल 'रसाभास' कही गई है।

प्रेम-काव्यों में रूप - गुण - लोभ ही प्रेम का कारण दिखाया गया है। परन्तु साहचर्य भी एक कारण है। साहचर्य-जनित प्रेम स्थायी प्रभाव वाला होता है। इस प्रेम की एक विशेषता यह है कि यह संयोगावस्था में इतना तीव्र नहीं होता जितना वियोग के क्षणों में। रूप - गुण - लोभ पर आश्रित प्रेम भी कुछ समय के बाद साहचर्य - जन्य - स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रेम की सब से बड़ी विलक्षणता यह है कि इसे रो कर भी व्यक्त किया जा सकता है और हँस कर भी। इस प्रेम में आनन्दमूलक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकारों का संगम दिखाई देता है। संयोग-पक्ष और वियोग-पक्ष दोनों मिलते हैं। क्रोध और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य किसी भाव में यह विशेषता नहीं मिलती। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के इस विस्तृत शासन को देख कर ही आचार्यों ने शृंगार को 'रसराज' के नाम से विभूषित किया है।

———

# घृणा

"सृष्टि-विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषय रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से इन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है, उसे घृणा कहते हैं।" आचार्य शुक्ल जी की इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि जब मनुष्य संसार के सम्पर्क में आता है तो संसार की कुछ वस्तुएँ उसकी वृत्ति के अनुकूल दिखाई पड़ती हैं और कुछ उस की वृत्ति के प्रतिकूल। अपनी वृत्ति के प्रतिकूल पड़ने वाली वस्तुओं को देखकर उसे एक प्रकार का दुःख होता है। उसी दुःख की प्रेरणा से वह चाहता है कि वे प्रतिकूल अथवा अरुचिकर वस्तुएँ न केवल उस के सामने से प्रत्युत उस के चेतन मन से भी दूर हट जाएँ। अरुचिकर वस्तुओं को दूर हटाने की प्रेरणा देने वाला वह दुःख घृणा की संज्ञा प्राप्त करता है। घृणा के विषय दो भागों में बाँटे जा सकते हैं :—"स्थूल और मानसिक।" स्थूल विषय आँख, कान और नाक इन इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं। किसी बदसूरत व्यक्ति को देख कर दृष्टि फेरना, गधे की ढीचूं-ढीचूं सुन कर कानों में उंगली डालना, और म्युनिसिपैलिटी की "मल" की गाड़ी के सामने आने पर नाक पर रूमाल रखना इस के उदाहरण हैं। मानसिक विषयों की घृणा मन में कुछ अपनी ही क्रिया से प्रसूत होती है और कुछ उन आदर्शों के प्रतिकूल विषयों के सामने आने पर जो आदर्श हम ने शिक्षा द्वारा प्राप्त किए हैं। भावों के मानसिक विषय

स्थूल विषयों से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र होते हैं। निर्लज्जता और अश्लीलता का वृत्तान्त कितनी ही सुरीली तान में क्यों न सुनाया जाए, घृणा उत्पन्न करेगा। इस के विपरीत परोपकार करने वाला अत्यन्त गन्दा आदमी भी हमारी श्रद्धा का पात्र बन जाएगा।

हमारे सम्मुख प्रतिकूल और अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर हम या तो उन से दूर होने का प्रयत्न करते हैं और बहुत अधिक कुछ करेंगे तो फिर अपने मन के व्यापारों को उन विषयों की ओर से बन्द कर लेंगे। इस से अधिक हम और कुछ नहीं कर सकते। व्यावहारिक दृष्टि से क्रोध और घृणा में अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल जी का कथन है कि "क्रोध का विषय पीड़ा या हानि पहुँचाने वाला होता है, इस से क्रोधी उसे नष्ट करने में प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय या मन के व्यापार में संकोच-मात्र उत्पन्न करने वाला होता है। इस से मनुष्य को उतना उग्र उद्वेग नहीं होता और वह घृणा के विषय की हानि करने में तुरन्त बिना कुछ और विचार किए प्रवृत्त नहीं होता।" इस अन्तर को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी से घृणा करते हैं।" घृणा का विषय हमारे सामने इस लिए नहीं लाया जाता कि उस से हमें दुःख पहुँचे, परन्तु क्रोध का चेतन विषय हमारे सामने हमें आघात पहुँचाने के लिए उपस्थित होता है या समझा जाता है। यदि आप को किसी के मैले दाँत अच्छे नहीं लगते तो आप अपना मुँह फेर लेंगे, आगे बढ़ कर उस के दाँत ही नहीं तोड़ देंगे। यदि कोई स्त्री आप से बड़े मीठे शब्दों में कोई कलुषित प्रस्ताव करे, तो आप को उस के प्रति घृणा होगी, पर यदि वही स्त्री आप को

डण्डा ले कर मारने आए तो आप उस पर क्रोध करेंगे। इस प्रकार घृणा का भाव एक शान्त भाव है, इस लिए वह निवृत्ति का मार्ग दिखाती है। क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करके विषय की ओर अग्रसर करता है, इस लिए यह प्रवृत्ति का मार्ग दिखलाता है।

आज की वनावटी सभ्यता में "घृणा" शव्द वैर अथवा क्रोध को छिपाने के काम भी आता है। यदि हमें किसी से वैर है तो हम कुछ सभ्य व्यक्तियों के वीच वैठ कर यह कह देंगे कि हमें उस से घृणा है। शुक्ल जी के मतानुसार वैर का आधार व्यक्तिगत और घृणा का आधार सार्वजनिक होता है। वैर से हम यह समझते हैं कि कहीं दो या दो से अधिक व्यक्तियों के लक्ष्य का आपस में विरोध हो गया है। परन्तु घृणा से प्रायः यही अनुमान लगाया जाता है कि समाज के किसी लक्ष्य अथवा आदर्श का विरोध हुआ है। इस लिए आधुनिक समाज में वैर के स्थान पर घृणा शव्द का प्रयोग कर के वदला भी ले लिया जाता है और वचाव भी हो जाता है।

घृणा के स्थूल विपय प्रायः सव मनुष्यों के लिए समान ही होते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध को सभी क्रमशः सुगन्ध और दुर्गन्ध ही कहेंगे। सुगन्ध को दुर्गन्ध कोई नहीं कहेगा। घृणा और श्रद्धा के मानसिक विपय भी सभ्य जातियों में प्रायः समान ही होते हैं। जूआ, मद्यपान, कायरता, आलस्य आदि के प्रति घृणा और परोपकार, इन्द्रिय-संयम आदि पर प्रायः सभी लोग श्रद्धा रखेंगे। घृणा के मूल विपय जव प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने आते हैं तो वहाँ कोई मत-भेद नहीं उत्पन्न होता। पर कभी जव ये स्वयं हमारे सामने नहीं आते और इन के अनुमानित लक्षण हमारे सामने रहते हैं, जो अन्य विपयों के

भी लक्षण हो सकते हैं, उस समय घृणा-सम्बन्धी मत-भेद दिखाई देता है। एक ही व्यक्ति को कोई बड़ा धार्मिक और पुण्यात्मा समझता है तो दूसरा व्यक्ति उसे पक्का मक्कार और चालबाज समझता है। घृणा में मतभेद का एक मकारण यह भी है कि संसार में बहुत सी वस्तुओं के बीच की सीमाएँ अस्थिर हैं। एक ही वस्तु या गुण किसी सीमा तक श्रद्धा का विषय होता है और किसी सीमा तक अश्रद्धा का। सीमाओं की इस अस्थिरता के अतिरिक्त शिक्षा और संस्कारों के कारण भी यह मत-भेद उत्पन्न हो जाता है।

आचार्य जी दो प्रकार के मनोविकार मानते हैं:—प्रेष्य और अप्रेष्य। प्रेष्य वे जो एक के हृदय में दूसरे के प्रति उत्पन्न हो कर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे:-प्रेम, क्रोध, घृणा इत्यादि। जिस से हम प्रेम करते हैं, वह हम से भी प्रेम कर सकता है। अप्रेष्य मनोविकार जिस के प्रति उत्पन्न होंगे, उस के हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे—जैसे भय, दया, ईर्ष्या आदि। जिस पर हम दया करेंगे, वह हम पर श्रद्धा करेगा। प्रेष्य-मनोविकार सजातीय (अपने जैसा ही) संयोग पा कर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। दो व्यक्तियों में यदि क्रोध क्रमशः बढ़ता ही जाए तो अत्यन्त भीषण क्रोध का एक दृश्य उत्पन्न हो जाएगा। इस लिए प्रेष्य-मनोविकारों से सावधान रहना चाहिए। अप्रेष्य-मनोविकारों में विजातीय (जो अपने जैसा नहीं) संयोग होता है जिस के कारण उन की वृद्धि नहीं हो सकती। जिस पर हम दया करते हैं, वह हम पर श्रद्धा करेगा, पर उसकी श्रद्धा से हमारी दया उसी समय बढ़ नहीं जाएगी।

आचार्य जी के मतानुसार घृणा और भय की प्रवृत्ति एक

सी है। दोनों अपने विषयों से दूर होने की प्रेरणा देते हैं। परन्तु घृणा का दुःख स्थायी रहता है और भय में भावी दुःख की आशंका बढ़ती रहती है। "भय दुःख की एक ऐसी छाया है जो हमारे चारों ओर घोर अंधकार फैला सकती है।" अतः भय एक अतिरिक्त क्लेश है। आधुनिक सभ्य और शिष्ट समाज में घृणा को उदासीनता के पर्दे में छिपाया जाता है। परन्तु उदासीनता और घृणा में अन्तर स्पष्ट है। हम को जिस बात से घृणा है, हम न केवल चाहते हैं, वरन् इस बात के लिए आकुल रहते हैं कि वह बात न हो, परन्तु जिस बात से हम उदासीन हैं, उस के सम्बन्ध में परवाह नहीं करते, वह चाहे हो, चाहे न हो, हम तटस्थ रहते हैं।

————

# ईर्ष्या

आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार, "जैसे दूसरे के दु:ख को देख कर दु:ख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देख कर भी एक प्रकार का दु:ख होता है, जिसे ईर्ष्या कहते हैं।" ध्यान रहे कि यह दु:ख दूसरे के सुख को देख कर होता है। ईर्ष्या एक संकर भाव है—अर्थात् इस का जन्म कई भावों के मेल से होता है। आलस्य, अभिमान और निराशा के संयोग से ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है। क्योंकि बालकों में आलस्य, अभिमान और निराशा के भाव बड़े होने पर ही उत्पन्न होते हैं इस लिए उन में यह ईर्ष्या का भाव जरा देर में उत्पन्न होता है। पशुओं में यह भाव मिलता ही नहीं। ईर्ष्या में किसी वस्तु की प्राप्ति की प्रबल इच्छा नहीं होती। उस में तो केवल उस वस्तु का अभाव खटकता है। हमारे पास कोई वस्तु नहीं है, किसी दूसरे के पास है, इस बात पर हमें तीन प्रकार का दु:ख हो सकता है जिसे हम इस प्रकार व्यक्त करेंगे :—

(१) क्या कहें हमारे पास भी वह वस्तु होती !

(२) हाय ! वह वस्तु उस के पास न हो कर हमारे पास होती तो अच्छा था।

(३) वह वस्तु किसी प्रकार उस के हाथ से निकल जाती चाहे जहाँ जाती।

इन तीनों वाक्यों को ध्यान से पढ़ने से पता लगेगा कि इन में हमारा भाव व्यक्ति की ओर क्रमश: बढ़ता गया है, और वस्तु की ओर कम होता गया है। व्यक्ति और वस्तु की ओर

हमारे लक्ष्य के आधार पर ही ईर्ष्या और स्पर्द्धा में अन्तर स्पष्ट किया जाता है। ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत। इन वाक्यों में प्रथम वाक्य स्पर्द्धा को व्यंजना करता है। ईर्ष्या की नहीं, क्योंकि उस में लाभ की उत्तेजित इच्छा को अभि-व्यक्ति की गई है। दूसरे वाक्य में ईर्ष्या का थोड़ा आभास मिलता है और तृतीय वाक्य में तो ईर्ष्या की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

स्पर्द्धा में हम किसी व्यक्ति के सुख, ऐश्वर्य गुण अथवा मान को देख कर अपनी त्रुटि पर दुःख अनुभव करते हैं। दुःख की इस अनुभूति के बाद हमारे मन में प्राप्ति की एक उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्पर्द्धा मनुष्य को अपनी त्रुटि को दूर कर के उन्नति-साधन को प्रेरणा देती है। अतः स्पर्द्धा में अपनी कमी या त्रुटि पर दुःख होता है, दूसरे की सम्पन्नता पर नहीं। स्पर्द्धा में हमें इस बात पर दुःख होता है कि "मैं ने उन्नति क्यों नहीं की?" और ईर्ष्या में हमारे दुःख का विषय होता है, "उस ने उन्नति क्यों की?" स्पर्द्धा संसार में गुणी व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि करती है और ईर्ष्या कमी करती है। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से स्पर्द्धा एक उपयोगी भाव है। आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार ईर्ष्या की गणना मूल मनोविकारों में नहीं की जा सकती। ईर्ष्या कई भाव-तत्त्वों के सम्मिश्रण से तैयार किया हुआ एक "विष" है। इस लिए यह समाज के लिए अनुपयोगी भाव है। ईर्ष्या का भाव जब और उग्र रूप धारण कर लेता है तो इस की परिणति "द्वेष" में हो जाती है। द्वेष में हम दूसरे व्यक्ति का हर प्रकार से अनिष्ट करने पर तुल जाते हैं। 'वैर' और "द्वेष" में अन्तर यह है कि वैर हम तब करते हैं जब हमारी कोई वास्तविक हानि की गई हो। उस हानि के

बदले में हम वैर करते हैं और 'द्वेष' में हमारी व्यक्तिगत हानि या लाभ का प्रश्न सामने नहीं रहता।

ईर्ष्या के सम्बन्ध में एक बात विशष ध्यान देने योग्य यह है कि ईर्ष्या किसी व्यक्ति-विशेष से ही होती है ऐसा नहीं होता कि जिस किसी व्यक्ति को भी हम ऐश्वर्य, गुण अथवा मान से सम्पन्न देखते हैं, उस से ईर्ष्या करने लगते हैं। ईर्ष्या केवल उन्हीं से होती है जिन के हम सम्पर्क में आते हैं अथवा जिन के विषय में हमारी यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ-साथ उन पर भी पड़ेगी अथवा पड़ती होगी। जिस प्रकार समाज के सम्पर्क में आने से व्यक्ति सहानुभूति और श्रद्धा का पात्र बनता है, उसी प्रकार ईर्ष्या का भी पात्र बन जाता है। अपने से दूरस्थ होने के कारण हमारे साथ-साथ जिन पर लोगों की दृष्टि नहीं पड़ती, उन के प्रति हमारी ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती। भारत के किसी धनी को अमेरिका के किसी धनी-व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या नहीं होगी। सम्बन्धियों, सहपाठियों और पड़ोसियों में ईर्ष्या की भावना अधिक देखी जाती है। ईर्ष्या के विकास के लिए ईर्ष्या करने वाले और ईर्ष्या के पात्र (जिस पर ईर्ष्या की जाती) के अतिरिक्त समाज की भी आवश्यकता होती है, क्योंकि ईर्ष्या समाज पर प्रभाव डालने के भाव से ही की जाती है। ऐश्वर्य या गुण में हम दूसरों से बढ़ कर अथवा उस के बराबर न हों, पर यदि समाज हमें आगे बढ़ा हुआ मानता है तो इसी से हमारी तुष्टि हो जाती है। कितनी कृत्रिमता है। शुक्ल जी ईर्ष्या को "सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक 'विष' मानते हैं।" इस के प्रभाव से हम दूसरे की उन्नति से अपना कोई वास्तविक नुकसान होता न देख कर भी व्यर्थ दुःखी होते हैं।

अप्राप्त वस्तु के प्रति तो ईर्ष्या होती ही है, प्राप्त-वस्तु के

प्रति भी ईर्ष्या का भाव देखा जाता है। जो वस्तु हमारे पास है, दूसरों के पास वह वस्तु न हो, जब यह भाव हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है तो हमें ईर्ष्या होने लगती है। हम धनी हैं तो हमें अपने निर्धन पड़ोसी के बढ़ते हुए धन को देख कर ईर्ष्या होने लगेगी। आचार्य जी के मतानुसार समाज और राजनीति में जो विषमताएँ पाई जाती हैं, उन का कारण ऐसी ही ईर्ष्या होती है। समाज में रहने वाला बड़ी स्थिति का व्यक्ति अपने से छोटे व्यक्तियों को हीन समझता है। ऐसे व्यक्ति दण्ड के अधिकारी होते हैं। समाज जब ऐसे व्यक्तियों को प्रोत्साहित करता है तो सामाजिक विषमताएँ और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसी संदर्भ में आचार्य जी "अहंकार" को व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जब व्यक्ति हर समय अपनी बड़ाई के आनन्द का अनुभव करने लगे और यह उस का दुर्व्यसन ही बन जाए तो अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकारी व्यक्ति के लिए उन्नति और विकास का द्वार बन्द हो जाता है। इसी अहंकार को "मद" भी कहते हैं। दुर्व्यसन कोई भी हो, "मद" है।

ईर्ष्या में क्रोध का भाव भी कभी-कभी मिल जाता है। जैसे हम "क्रोध से जलना" वाक्य प्रायः सुनते हैं, वैसे ही "ईर्ष्या से जलना" भी कहा जाता है। क्रोध को ईर्ष्या का संचारी भाव कह सकते हैं। आचार्य के अनुसार ईर्ष्या-जनित यह क्रोध जड़-क्रोध होता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में हम जिस पर क्रोध करते हैं, उस के मानसिक उद्देश्य पर ध्यान नहीं देते। यदि लापरवाही से दौड़ते हुए हम मार्ग में सोए किसी व्यक्ति से टकरा कर उस पर बिगड़ने लगें तो हमारा ध्यान इस ओर नहीं जाएगा कि वह व्यक्ति हमें ठोकर खिलाने के लिए नहीं सोया था। हम यह नहीं सोचेंगे कि उस व्यक्ति का उद्देश्य हमें दुःख पहुँचाने का

नहीं था। आचार्य जी का कहना है कि ईर्ष्या निःस्वार्थ होनी चाहिए। दुःख या हानि पहुँचाने वाली ईर्ष्या शुद्ध ईर्ष्या नहीं। इस के आगे शुक्ल जी ईर्ष्या के दुःख को व्यर्थ वताते हैं, वह निष्फल होता है। अधिकतर जिस वात पर ईर्ष्या होती है, वह ऐसी वात होती है जिस पर हमारा वश नहीं होता। जव हम आलस्य और नैराश्य के कारण अपनी ही स्थिति में अनुकूल सुधार नहीं कर सकते तो दूसरे की स्थिति में क्या परिवर्तन कर सकते हैं। हमारे दुःख प्रकट करने से उस की स्थिति में कुछ वनने विगड़ने वाला नहीं। ईर्ष्या में प्रयत्न की प्रेरणा देने वाली शक्ति वहुत कम होती है। इस में क्रोध जैसा वेग नहीं होता। ईर्ष्या एक अप्रेष्य मनोविकार है। ईर्ष्या करने वाले को वदले में ईर्ष्या न मिल कर घृणा और क्रोध मिलते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार ईर्ष्या प्रकृति के कानून में एक अपराध है।

ईर्ष्या एक अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। यह अपने धारणकर्त्ता स्वामी के सामने भी पूर्ण रूप से नहीं आती। ईर्ष्या करने वाला व्यक्ति कभी इसे प्रकट नहीं होने देता। यह एक ऐसी वृत्ति है जिस का प्रकटीकरण न एकान्त में सम्भव है न जनसमूह में। अन्य सभी मनोविकारों—प्रेम, क्रोध आदि—की स्वीकृति हम कर लेते हैं परन्तु ईर्ष्या की स्वीकृति न कर हम अन्य वृत्तियों द्वारा इसे छिपाने का प्रयास करते हैं।

# भय

"किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेशपूर्ण अथवा स्तम्भ-कारक मनोविकार होता है, उसी को 'भय' कहते हैं।" अर्थात् जब हमें किसी भावी संकट की संभावना हो जाती है तो हमारे हृदय में एक तीव्र और कँपा देने वाला भाव उत्पन्न होता है जिसे भय की संज्ञा दी जाती है। क्रोध और भय में यही अन्तर है कि क्रोध में दुःख का कारण जानना आवश्यक हो जाता है, परन्तु भय के लिए कारण का ज्ञात होना आवश्यक नहीं। भय में केवल इतना जान लेना पर्याप्त है कि दुःख या हानि होने वाली है। कोई ज्योतिषी यदि किसी को यह कहे कि 'कल उस के हाथ-पैर टूट जाएँगे', तो इस से उसे क्रोध न आ कर भय होगा। परन्तु यदि उसी व्यक्ति को कोई यह आ कर कहे कि 'अमुक व्यक्ति कल उस के हाथ-पाँव तोड़ देगा, तो क्रोध से उस के नथने फूल जाएँगे।

भय के दो विषय होते हैं—असाध्य और साध्य। असाध्य भय प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं किया जा सकता, परन्तु साध्य भय का प्रयत्न द्वारा निवारण किया जा सकता है। जंगल में जा रहे दो व्यक्ति शेर की दहाड़ सुन कर यदि भागने, छिपने अथवा पेड़ पर चढ़ने का प्रयत्न करें तो बच सकते हैं। विषय का साध्य अथवा असाध्य होना परिस्थिति के अतिरिक्त मनुष्य की प्रकृति पर भी निर्भर है। यदि कोई व्यक्ति साहसी है तो कठिन परिस्थिति के उत्पन्न होने पर वह भय से दूर रहकर उस

से बचने का उद्योग करने लगता है। शुक्ल जी के कथनानुसार भय यदि स्वभावगत हो जाए तो 'कायरता' अथवा 'भीरुता' कहलाता है और भीरुता एक बड़ा भारी दोष है। स्त्रियों की भीरुता तो उन की लज्जाशीलता के समान ही पुरुषों के लिए आनन्द की वस्तु है। परन्तु पुरुषों की भीरुता निंद्य समझी जाती है। भीरुता का अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है और दूसरे उस में कष्ट सहन करने की क्षमता का अभाव है। सामाजिक-जीवन में यह भीरुता अनेक रूपों में मिलती है। धन-हानि के भय से बहुत से व्यक्ति किसी विशेष व्यापार में हाथ नहीं डालते, हार जाने के भय से कुछ पण्डित लोग शास्त्रार्थ से कतराते हैं। संसार में केवल धर्म-भीरुता की प्रशंसा लोग करते हैं, परन्तु आचार्य शुक्ल जी इसे भी प्रशंसा की वस्तु नहीं समझते। उन्हें धर्म से डरने वालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होने वाले अधिक धन्य जान पड़ते हैं।

दुःख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उस की सम्भावना-मात्र के अनुमान से जो एक आवेग-रहित भय होता है, उसे "आशंका" कहते हैं। आशंका में भय जैसी आकुलता नहीं रहती। कोई व्यक्ति इस आशंका से कि कहीं शेर न मिल जाए, घने जंगल में बराबर चलता जाएगा, परन्तु जब उसे वास्तविक भय हो जाएगा, उस समय वह या तो लौट पड़ेगा, अथवा छिपने का प्रयत्न करेगा। दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति है, जो सुखात्मक भावों में आशा की।

क्रोध का प्रभाव दुःख के कारण पर डालने से क्रोध का थोड़े या बहुत समय के लिए निवारण हो जाता है, पर भय के द्वारा ऐसी बात नहीं पाई जाती। व्यक्तियों में जब तक भय बना रहता है, वे उस से बचने का प्रयत्न करते रहते हैं। भय का

ग्राभास मिटने पर कोई नई कठिनाई उपस्थित हो सकती है। वच्चों और असभ्य जातियों में भय की मात्रा अधिक रहती है। जिस से वे भयभीत हो सकते हैं, उसी को श्रेष्ठ मान कर उस की पूजा करते हैं। इसी भय के कारण अनेक देवी-देवताओं की कल्पना हुई है। अशिक्षित होने के कारण प्रायः भारतवासी भी भय के पुजारी हैं। अतिशय भय और भयकारक का सम्मान शुक्ल जी की दृष्टि में असभ्यता के लक्षण हैं। इसी असभ्यता के कारण भारत के अधिकांश लोग जितना सम्मान एक थानेदार या सिपाही का करते हैं, उतना किसी विद्वान् का नहीं। सभ्यता का विकास ही भय के कारणों को दूर कर सकता है।

मनुष्य की प्रकृति में अनेक-रूपता सदा से पाई गई है और पाई जाएगी। एक मनुष्य में दूसरे मनुष्य के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर मिलते हैं। परन्तु शुक्ल जी के मतानुसार मनुष्य का व्यक्तिगत रूप उतना विषम नहीं रहता, जितना उस का समष्टिगत रूप। शुक्ल जी संघ को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जिस के द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की संभावना बहुत बढ़ जाती है। इसी संघ-शक्ति के कारण आज एकदेश दूसरे देश से भयभीत हो रहा है, यद्यपि व्यक्तिगत रूप में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अब पहले जैसा भय नहीं रहा है।

जैसे प्रत्येक प्राणी को सुखी रहने का अधिकार है, उसी प्रकार भय-मुक्त होने का भी। भय-मुक्त होने के दो साधन हैं। एक तो हमारे कारण किसी को कष्ट न हो जिस के लिए हम में शील का होना आवश्यक है और दूसरा यह कि दूसरे लोग हमें कष्ट पहुँचाने का साहस न कर सकें जिस के लिए हमें शक्ति-

सम्पन्न होना चाहिए । पर कभी-कभी दूसरों को न डरा कर भी हमारे डरने की सम्भावना कम नहीं हो जाती । शीलवान् और साधु व्यक्ति किसी को दुःख नहीं पहुँचाते, परन्तु दुर्जनों और लोभियों द्वारा नित्य-प्रति सताये जाते हुए देखे जाते हैं ।

# क्रोध

अब हम शुक्ल जी के मनोविकार-सम्बन्धी अन्तिम निबन्ध पर आते हैं। क्रोध की परिभाषा देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि "क्रोध दु:ख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।" यहाँ दु:ख और उस के कारण का परिज्ञान आवश्यक है। दु:ख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का जन्म नहीं होता। तीन-चार महीने के छोटे से बालक को जब कोई हाथ उठा कर मार देता है, तो बच्चा केवल रो भर देता है जिस से उस का दु:ख-मात्र प्रकट हो जाता है। वह, हाथ उठाने का अपनी पीड़ा से क्या सम्बंध है, यह नहीं जानता, इसी लिए वह क्रोध नहीं करता।

सामाजिक दृष्टि से क्रोध की स्थिति अत्यन्त आवश्यक है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों द्वारा पहुँचाए गए दु:ख का निवारण करने के लिए कोई उपाय ही नहीं ढूँढ सकता और दूसरे लोग सदा उसे दु:खी करते रहेंगे। व्यावहारिक जीवन में अधिकतर क्रोध 'प्रतिकार' के रूप में देखा जाता है। "प्रतिकार" में, भविष्य में, दु:ख प्राप्त करने की संभावना नहीं होती। गाड़ी में सफ़र करते दो अपरिचित व्यक्तियों में से एक व्यक्ति दूसरे को बातों-बातों में तमाचा मार कर स्टेशन पर उतरने लगे कि इतने में दूसरा व्यक्ति उठ कर उस उतरने वाले व्यक्ति को तमाचा जड़ देता है, तो इसे हम 'प्रतिकार' कहेंगे, क्योंकि उन दोनों की भविष्य में मिलने की सम्भावना बहुत कम है। इसी प्रकार जहाँ दु:ख की सम्भावना निरन्तर बनी रहे, वहाँ क्रोध में स्वरक्षा

की भावना भी मिलेगी। इस दो प्रकार के क्रोध में प्रथम प्रकार का क्रोध समाज के लिए उपयोगी नहीं है। दुःख पहुँचाने वाले से हमें भविष्य में दुःख पहुँचने का डर चाहे न रहे, परन्तु समाज के लिए हो सकता है। ऐसे दुःख पहुँचाने वाले के लिए आरम्भ में ही दण्ड का विधान कर देना उपयोगी होगा।

क्रोध, दुःख के चेतन कारण के परिज्ञान से उत्पन्न होता है, यह पहले कहा जा चुका है। जहाँ दुःख के इस कारण का ज्ञान त्रुटिपूर्ण या भ्रम-मूलक हो, वहाँ क्रोध धोखा देता है। ऐसे क्रोध में अपनी ओर ध्यान नहीं जाता, सारा दोष दुःख पहुँचाने वाले का ही समझा जाता है। शुक्ल जी इसे क्रोध का "अंधापन" कहते हैं।

क्रोधी व्यक्ति की उद्वेगपूर्ण चेष्टाओं का लक्ष्य पहले हानि और पीड़ा पहुँचाने का नहीं होता, पहले भय का संचार करने का होता है। जिस पर क्रोध किया जाता है, वह यदि पहले ही डर जाए और डर कर अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँग ले, तो स्थिति भयानक रूप धारण नहीं करती। कभी-कभी क्रोध का लक्ष्य किसी के गर्व अथवा अभिमान को चूर्ण करना रहता है। क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी मनुष्य यह भी नहीं सोचता कि जिस ने दुःख पहुँचाया है, उसकी दुःख पहुँचाने की इच्छा भी थी अथवा नहीं। चाणक्य का अपने पैरों के नीचे आए कुश-तृणों को जड़ से उखाड़ फेंकना इसी भाव का द्योतक है। शुक्ल जी इस प्रकार के क्रोध को "अपरिष्कृत क्रोध" की संज्ञा देते हैं।

क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला भाव है। अवसर पड़ने पर यह अन्य मनोविकारों का साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक बन जाता है। किसी कुमार्गी और क्रूर व्यक्ति को किसी अबला

पर अत्याचार करते देख कर हमें उस अवला पर दया आती है। परन्तु दया की अपनी शक्ति तो कोमल व्यवहार और त्याग तक सीमित है। दया यहाँ कुछ नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में क्रोध ही व्यक्ति को उस अत्याचारी का दमन करने के लिए उत्तेजित करता है। क्रोध के बिना दया का कोई महत्त्व नहीं था, वह व्यर्थ थी। काम बेचारा क्रोध करता है, नाम दया का होता है। लोग कहते हैं—"उसने दया कर के वचा लिया।" यह कोई नहीं कहेगा कि क्रोध करके वचा लिया।

क्रोध शान्ति का अपहरण करने वाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का भाव ही उत्पन्न करता है। इसी लिए धर्म, नीति और शिष्टाचार में क्रोध-त्याग का उपदेश दिया जाता है। सभ्य लोग भी क्रोध नहीं तो क्रोध के लक्षण छिपाने का प्रयास करते देखे जाते हैं। शुक्ल जी के कथनानुसार क्रोध-निरोध ठगों और स्वार्थियों में सिद्धों और योगियों से भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। जिन से कुछ स्वार्थ निकलता हो, उनकें लाख गालियाँ देने पर भी इन लोभियों को क्रोध नहीं आएगा। पर लोभियों का क्रोध-निरोध न धर्म का लक्षण है और न साधन।

क्रोध उत्पन्न करने वाले दो प्रकार के दुःख होते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। अपने दुःख से आगे वढ़ कर जव हमारा दुःख परिवार, ग्राम और देश की सीमा लाँघ कर सार्वभौमिक धरातल पर आ खड़ा होता है—अर्थात् जव हमारा दुःख विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के लिए उमड़ने लगता है, तभी सच्ची पर-दुःख-कातरता उत्पन्न होती है। इसी धरातल पर आ कर हमारे क्रोध को पूर्ण सौंदर्य प्राप्त होता है। ऐसे ही सौंदर्य की जगमगाहट हम काव्य में देखते आए हैं। यह क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के

रूप में हमारे सामने आता है क्रौंच-दम्पती में से एक का वध होने पर आदि-कवि वाल्मीकि ने करुण-क्रोध प्रकट किया और इस करुण-क्रोध का सौंदर्य एक महाकाव्य का सौंदर्य हुआ। करुण-क्रोध के सौंदर्य को व्यक्त करने वाली वाल्मीकि की ये पंक्तियाँ :—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

भारतीय-साहित्य में अमर हो गई हैं। इन में प्राणी-मात्र के लिए दया का भाव छिपा है। आचार्य जी ने राम के क्रोध को लोक के क्रोध की क्षुब्धता का परिणाम कहा है। दुःख और पीड़ा सहते-सहते जब सीमा का उल्लंघन हो जाता है। उस समय क्षमा का स्थान नहीं रहता। इसी निराशा की अवस्था में क्रोध अपने वेगपूर्ण सौंदर्य को प्रकट करता है। राम का क्रोध सात्त्विक तेज है। आचार्य जी दण्ड को भी कोप का एक विधान मानते हैं। राज-दण्ड राज-कोप है। राज-कोप लोक-कोप के कारण और लोक-कोप धर्म-कोप के कारण होता है। तीनों में गहरा सम्बन्ध है।

दुःख पहुँचाने वाले पर जब हमारा क्रोध स्थायी रूप में टिक जाता है, तो वह "वैर" का रूप धारण कर लेता है। इसी लिए आचार्यजी "वैर को क्रोध का अचार या मुरब्बा कहते हैं।" वैर में क्रोध का वेग अथवा उग्रता तो धीमी पड़ जाती है, परन्तु दुःख के विषय को पीड़ित करने का लक्ष्य बहुत समय तक चलता रहता है। वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिन में भावों के संचय करने की शक्ति रहती है। पशु और बच्चों में वैर-भावना नहीं होती, वे शीघ्र ही बात को भूल जाते हैं।

क्रोध का एक हल्का रूप "चिड़चिड़ाहट" है जो केवल शब्दों

द्वारा ही प्रकट की जाती है। कभी-कभी जब हमारा चित्त अशान्त रहता है और कोई व्यक्ति आ कर हमारी किसी प्रवृत्ति में बाधा डालता है, तो हम उसके प्रति चिड़चिड़ा उठते हैं। चिड़चिड़ाहट एक मानसिक दुर्बलता है जो रोगियों और बूढ़ों में अधिक पाई जाती है।

जब हमें कोई बात बुरी लगती है और उसकी असह्यता का हम क्षोभ और आवेगपूर्ण अनुभव करते हैं, उस समय "अमर्ष" की उत्पत्ति होती है। इस में कष्ट पहुँचाने वाली बात के ब्योरों और उसकी असह्यता पर अधिक जोर दिया जाता है, पीड़ित करने की चेष्टा पर कम। "तुम ने मेरे साथ यह किया, वह किया। अब नहीं सह सकता इत्यादि।" क्रोध अमर्ष से आगे बढ़ा हुआ रूप है। "धूल में मिला दूँगा।" आदि वाक्य सुनने में आते हैं। क्रोध में पात्र को पीड़ित करने का निश्चय दिखाई देता है, अमर्ष में उसकी पिछली असह्य बातों का गिला रहता है।

वस्तुतः शुक्ल जी की "चिंतामणि" चिन्तामणि ही है। अतः इस विस्तृत विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि शुक्ल जी के निबन्ध उनकी अप्रतिम प्रतिभा के प्रमाण हैं।

———

# आलोचक

नन्ददुलारे वाजपेयी जी का कथन है कि "साहित्य-रचना और उस की आलोचना की धाराएँ समानान्तर चला करती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक-साहित्य ऐसी आलोचना को जन्म देता है जो उस के अनुरूप होती है। इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग के रचनात्मक-साहित्य को अपने अनुरूप बनाया करती है। वास्तव में देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्यिक निर्माण को दिशा दिखाती हैं, और दूसरी ओर आलोचना का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। इस प्रकार रचनात्मक-साहित्य के इतिहास में और आलोचना के इतिहास में एक धारावाहिक समानता रहती है। उदाहरण के लिए भक्ति-काल के साहित्य और आलोचना को ले सकते हैं। तुलसीदास ने कई बार लिखा है कि वे काव्य के लिए काव्य-रचना नहीं कर रहे थे, और इसी प्रकार कबीरदास भी कागद और मसि को हाथ न लगने की दुहाई देते रहे हैं। परिणाम-स्वरूप उस युग की समीक्षा भी भक्ति को प्रधानता दे कर चली। रचना के कलात्मक गुणों की एक सीमा तक उपेक्षा भी की गई। भक्ति-रस एक स्वतन्त्र रस माना गया। समस्त समीक्षा की दिशा भक्ति-भावना के अनुरूप ही मोड़ दी गई। अतः साहित्य और आलोचना एक दूसरे को अपने अनुरूप ढाल लेते हैं।

हमारे यहाँ आलोचना-सम्बन्धी साहित्य का अभाव रहा है। इस अभाव की ओर हमारा ध्यान उस समय तक नहीं गया, जब तक हमारा सम्पर्क अंग्रेज़ी साहित्य से नहीं स्थापित हुआ।

तुलसी हमारा आदर्श कवि रहा, परन्तु हम उस के महत्त्व से अनभिज्ञ रहे। तुलसी का महत्त्व हमें ग्रियर्सन ने बताया। ग्रियर्सन की खोज से पूर्व तुलसी की अमर कलाकृति, "रामचरित मानस" का आदर केवल एक धर्म-ग्रंथ के रूप में ही था। उस समय तक काव्य तो विहारी, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। तुलसी के "मानस" का उत्कृष्ट काव्य के रूप में कोई महत्त्व प्रतिपादित नहीं किया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि हिन्दी-साहित्य बड़ा प्राचीन है, परन्तु हिन्दी का समालोचना-साहित्य आधुनिक युग की देन है। इस आधुनिक हिन्दी-आलोचना पर पश्चिम का विशेप प्रभाव परलक्षित होता है।

हिन्दी-आलोचना की प्रारंभिक, किन्तु नव-चेतनावस्था में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का आगमन हुआ। पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप जिस आलोचना-पद्धति का जन्म ईसा की वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में हुआ, शुक्ल जी के इस क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व ही वह अपने जीवन-काल के लग-भग २०-२५ वर्ष विता चुकी थी। इस समय के बीच, दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं तथा स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में आलोचना के अनेक प्रयास हो चुके थे। परन्तु ये प्रयास-मात्र ही थे। इन आलोचना-पद्धतियों में विकास के तत्त्वों का अभाव था। और विकास-तत्त्वों के अभाव में कोई भी वस्तु म्रियमाण अवस्था में रहती है। हिन्दी का आलोचक अंधकार में आलोचना का मार्ग ढूंढ रहा था। शुक्ल जी से पूर्व भारतेन्दुयुग और द्विवेदी युग के आलोचकों की दृष्टि प्राय: दोप-दर्शन, गुण-कथन, निर्णय तथा कुछ-कुछ तुलनात्मक आलोचना की ओर ही रही। भारतेन्दु युग में तो गद्य का आविर्भाव हुआ ही था। अभी गद्य का रूप

ही परिष्कृत नहीं था तो आलोचना की कोई सुव्यवस्थित पद्धति की स्थापना तो और भी कठिन थी। किसी शास्त्रीय-नियम का पालन नहीं हो रहा था। भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी-अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोषों का उद्घाटन एवं विवेचन कर रहे थे। अनुवादों की परख के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी आलोचकों के सामने था। पुस्तकों की भूमिका के रूप में कुछ आलोचना प्रस्तुत की गई, "परन्तु ये 'नोट' रूप में लिखे गए निबन्ध आलोचना न हो कर पुस्तक-परिचय का रूप ही ग्रहण कर सके।" यह हिन्दी की नूतन तथा प्रयोग-कालीन समीक्षा का स्वरूप था। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में, "हम इन्हें आने वाली समालोचना का प्रारम्भिक रूप मान लें, तो सम्भवतः कोई अनुचित नहीं होगा।" अतः ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग की आलोचना छिद्रान्वेषिणी थी। दूसरों के दोष निकालना ही इस का उद्देश्य था। भारतेन्दु-युग के समीक्षक थे :—भारतेन्दु, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, बालमुकन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में आने से समीक्षा का यह स्वरूप कुछ व्यवस्थित हुआ। द्विवेदी जी ने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर साहित्य-निर्माण की प्रेरणा दी। उन्हों ने अपनी समीक्षा में उन्हीं रचनाओं को महत्त्व दिया जिन में समाज-उत्थान और राष्ट्रीयता की भावनाओं को लिया गया था। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त के वे प्रशंसक थे। संस्कृत-अध्ययन में विशेष रुचि होने के कारण संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों और हिन्दी

के प्राचीन कवियों में तुलसी और सूर के भी वे समर्थक थे। आलोचना का पुस्तक-रूप में आरंभ महावीर प्रसाद द्विवेदी की "हिन्दी कालिदास की आलोचना" नामक पुस्तक से हुआ। इस में संस्कृत के विद्वानों द्वारा उद्‌घाटित कालिदास के काव्य-सम्बन्धी भाषा और व्याकरण के दोषों को ही हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार "नैषध-चरित-चर्चा" तथा "विक्रमांक देव-चरित-चर्चा" नामक पुस्तकों में भी इस दोष-दर्शन प्रणाली को अपनाया गया है। आचार्य शुक्ल जी ने इन की आलोचना इन शब्दों में की है :—"इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली हुई बातों को दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचय कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए। स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।" महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सैद्धान्तिक आलोचना की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। उन का योगदान व्यावहारिक आलोचना में ही दिखाई देता है। सैद्धान्तिक आलोचना का वास्तविक विकास श्याम सुन्दर दास और आचार्य शुक्ल जी से ही संभव हुआ? महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निर्णयात्मक और परिचयात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। परन्तु द्विवेदी जी अधिकतर भाषा एवं व्याकरण की अशुद्धियों के सुधार की ओर ही लगे रहे। किसी लेख में और कुछ हो न हो, लेख यदि व्याकरण सम्मत होता तो वे प्रसन्न हो जाते। इस युग में टीका, लोचन, खंडन-मंडन शैली की ही प्रधानता रही। इस प्रकार भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के आलोचकों द्वारा किसी ऐसे मार्ग का अवलम्बन नहीं हो सका जो स्वयं उन्हें और परवर्ती आलोचकों को बहुत दूर तक ले जाता। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल जी से पूर्व हिन्दी-समीक्षा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। उस समीक्षा में वैयक्तिक-रुचि का ही प्राधान्य था। उस

समय काव्यों का स्थूल विवेचन रस, अलंकार आदि तत्त्वों के आधार पर ही हुआ था। तत्कालीन आलोचक इन तत्त्वों के बाह्य स्वरूप से ही परिचित हो पाया था, उन की आत्मा से वह अनभिज्ञ ही रहा। परिणाम-स्वरूप तत्कालीन आलोचना के ये मान जड़ (Rigid) हो गए और इन के आधार पर होने वाली आलोचना परम्परागत और निर्णयात्मक ही रह गई। "अमुक छंद में शृंगार रस की अभिव्यंजना हुई है और अमुक छंद में इतने अलंकारों का प्रयोग हुआ है," केवल यही कह कर आलोचकगण आलोचना करते रहे और पुरानी लीक पीटते रहे। जिस काव्य में अधिक से अधिक इन काव्यांगों का, उक्ति-चमत्कार के विभिन्न रूपों का निर्देश किया जा सकता था, वह काव्य उतना ही श्रेष्ठ माना जाता था। इस प्रकार अलंकारों की भरमार और उक्ति-वैचित्र्य की विभिन्नता काव्य की उत्कृष्टता की कसौटी समझे जाते थे। इन आलोचकों ने काव्य के उस भाव-सौंदर्य के भीतर झाँकने का प्रयास नहीं किया जिस के कारण कोई छन्द सहृदय व्यक्तियों के लिए श्लाघ्य बन जाता है। इन्हीं सब बातों को देख कर आचार्य शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में हिन्दी के आधुनिक गद्य साहित्य के द्वितीय उत्थान-काल तक की आलोचनाओं को रूढ़िगत (Conventional) कहा है। उन का कथन है कि इन में कवियों की विशेषताओं और अन्तः-प्रवृत्तियों की छानबीन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इस काल के आलोचक साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की ओर से भी उदासीन थे। यही कारण है कि वे काव्य को उक्ति चमत्कार मात्र समझते थे।

द्विवेदी युग के दूसरे बड़े आलोचक थे मिश्रबन्धु जिन्हों ने शुक्ल जी से पूर्व आलोचना-पद्धति के विकास में योगदान दिया।

आलोचकत्रय मिश्रबन्धुओं ने "मिश्रबन्धु-विनोद" और "हिन्दी नवरत्न" में तुलनात्मक आलोचना का आश्रय लिया है। लेकिन मिश्रबन्धुओं की यह आलोचना भी सर्वथा दोष-मुक्त नहीं थी। उन की भी कुछ अपनी सीमाएँ हैं। मिश्रबन्धुओं में तुलना की सनक इतनी प्रबल है कि किसी आधार के होने न होने पर भी तुलना की गई है। इन महाशयों ने तुलना करने की सनक के जोर में आ कर अंग्रेजी कवियों की तुलना हिन्दी के कवियों से की है। चॉसर (Chauser) की तुलना चन्दबरदाई से की है और शेक्सपियर (Shakespeare) की तुलना तुलसी से कर के गोस्वामी तुलसीदास को महान् घोषित किया है। इस प्रकार की तुलना करते समय आलोचकत्रय की दृष्टि इस बात की ओर नहीं गई कि उन की संस्कृतियों में; उन की परिस्थितियों में भिन्नता के कारण उन की विचार-सरणियों में भिन्नता स्वाभाविक है। तुलसी और केशव की तुलना में, केशव को केवल इसी आधार पर बड़ा बता दिया गया है कि केशव के छन्दों में तुलसी की अपेक्षा विविधता अधिक है। तुलना करना बुरा नहीं है, तुलना की सनक हो जाना बुरा है। तुलना तो आचार्य शुक्ल जी ने भी की है, परन्तु उन्हें मिश्रबन्धुओं की भाँति तुलना का भूत कभी सवार नहीं हुआ।

मिश्रबन्धुओं के पश्चात् हम एक नए क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। आचार्य शुक्ल जी के आलोचना-क्षेत्र में प्रवेश करने पर हिन्दी आलोचना को नई दिशाएँ मिलीं। शुक्ल जी इस क्षेत्र में एक मौलिक विचारक एवं सहृदय के रूप में प्रकट हुए, और उन के आगमन से हिन्दी-समीक्षा-कानन खिल उठा। आचार्य शुक्ल जी प्रथम आलोचक हैं जिन्हों ने न केवल आलोचना के सिद्धान्तों का निर्माण किया, वरन् व्यावहारिक आलोचना में उन सिद्धान्तों

का प्रयोग भी किया है। उन की आलोचनाओं का स्वरूप और उन की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार हैं :—

शुक्ल जी की समीक्षा-शैली समन्वय-शैली है। सैद्धान्तिक निगमनात्मक तथा प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-पद्धतियों का समन्वय शुक्ल जी ने अपनी आलोचना-शैली में किया है। प्रभावाभिव्यंजक शैली में जितना प्रभाव आलोचक पर किसी कला-कृति के अध्ययन द्वारा पड़ता है, उसी प्रभाव के अनुसार वह उस कला-कृति की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता घोषित कर देता है। परन्तु, इस के लिए एक बन्धन आवश्यक है कि आलोचक ईमानदार हो, उस की रुचि परिष्कृत हो, जिस के लिए विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में यह भी अनिवार्य नहीं कि आलोचक का निर्णय सभी को अवश्य ही मान्य हो। आलोचक ने तो अपने ऊपर पड़े प्रभाव के आधार पर अपना निर्णय दे देना है। वह मान्य भी हो सकता है और अमान्य भी। निगमनात्मक-शैली में सैद्धान्तिक-शैली की भाँति शास्त्रीय सिद्धान्तों का सहारा नहीं लिया जाता। इस में कोरी व्याख्या ही होती है जिस का आधार लेखक के स्वयं बनाए हुए सिद्धांतों का प्रयोग होता है। आचार्य शुक्ल जी सिद्धान्तों का निर्माण भी करते हैं, उन का पालन भी। इस के साथ ही आलोचना करते समय वे अपने मौलिक विचार भी अवश्य दे जाते हैं। शुक्ल जी से पूर्व के समीक्षकों में मौलिक प्रतिभा बहुत कम थी।

शुक्ल जी से पूर्व की आलोचना में यह दृष्टि भी नहीं मिलती कि साहित्य को युग की परिस्थितियों के परिपार्श्व में देखा जाए। उन से पूर्व के आलोचक, साहित्य और जीवन के सम्बन्ध को दृष्टि में रख कर आलोचना नहीं करते थे। वास्तव में साहित्य और जीवन के अटूट सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाली

आलोचना आचार्य शुक्ल जी द्वारा सम्पादित "तुलसी ग्रंथावली" की भूमिका से ही आरम्भ हुई। शुक्ल जी की आलोचना स्पष्ट एवं स्वस्थ है। वह कवि की प्रकृति की खोज करने वाली होने के अतिरिक्त युग की खोज में भी तत्पर थी जिस के कारण काव्य-सौंदर्य परिष्कृत हो कर आलोचक के सामने आता है।

आचार्य शुक्ल जी ने अपनी आलोचना में पूर्वी और पाश्चात्य समीक्षा-शैलियों को आत्मसात कर लिया है। शुक्ल जी एक ओर पूर्वी-तत्त्वों को ग्रहण करने के कारण रसवादी हैं और दूसरी ओर पश्चिमी-समीक्षा के निम्नलिखित तत्त्वों—कला-कृति की ऐतिहासिकता, मनोवैज्ञानिकता, और व्याख्यात्मकता—को स्वीकार करते हैं। शुक्ल जी किसी भी रचना को समाज का दर्पण मानते हैं। किसी कवि के व्यक्तित्व की छानबीन हमें पश्चिम की देन है। किन्तु पश्चिम की ये समीक्षा-शैलियाँ शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति में समन्वित हो गई है। शुक्ल जी ने इन का भारतीयकरण कर लिया है। पूर्वी और पश्चिमी समीक्षा-शैलियों का समन्वय श्री श्यामसुन्दरदास ने भी करने का प्रयास किया है, परन्तु वह पूर्ण रूप से हो नहीं पाया। उन के समन्वय में पूर्वीय और पाश्चात्य दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न ही दिखाई देते हैं। अतः पूर्वीय और पश्चिमी समीक्षा-शैलियों का सामंजस्य ही शुक्ल जी की आलोचना-शैली का स्वरूप है। उन की शैली में विवेचना की स्पष्टता, कवि के व्यक्तित्व की खोज के साथ व्यंग्य और विनोद के छींटे प्रायः देखने को मिल जाते हैं। शुक्ल जी का व्यंग्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं होता, उस में कोई न कोई गूढ़ अभिप्राय अवश्य छिपा रहता है। कभी-कभी तो उन के व्यंग्य उन की क्रोधाग्नि की चिंगारी बन कर आते हैं। किसी कला-कृति के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों पर उन की दृष्टि

समान रूप से पड़ी है। समीक्षा के जिन मान-दण्डों को लेकर शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा-शैली का निर्माण किया, उन में भी समन्वय मिलता है। उन के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त और मान-दण्ड कुछ इस प्रकार हैं:—

शुक्ल जी उत्कृष्ट-काव्य की कसौटी, रस-प्रतिपादन की क्षमता को मानते हैं। उक्ति-वैचित्र्य के प्राधान्य को वे काव्य में अच्छा नहीं समझते। उन के मतानुसार, उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान काव्य उच्चकोटि का काव्य नहीं हो सकता। उक्ति-वैचित्र्य से शुक्ल जी का अभिप्राय है कि जब कवि अपनी (निजी) अनुभूति पर ही पूरा बल देकर, पाठक या श्रोता की अनुभूति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता और केवल अपने अनुभव से जो कुछ देखता है, जैसा अनुभव करता है, उसी के आधार पर काव्य की रचना कर देता है, चाहे उस रचना से पाठक अथवा श्रोता को रसानन्द की प्राप्ति हो अथवा न हो। शुक्ल जी ऐसे काव्य को, जो पाठकों पर अपना प्रभाव न डाल सके, काव्य नहीं समझते।

शुक्ल जी काव्य में लोक-कल्याण की भावना का होना अनिवार्य मानते हैं। किसी काव्य-कृति का नैतिक प्रभाव क्या पड़ता है? शुक्ल जी इस दृष्टिकोण को ले कर ही किसी काव्य-कृति की आलोचना करते हैं। उन की दृष्टि में लोक-मंगल-भावना से ओत-प्रोत काव्य ही उत्कृष्ट-काव्य की सीमा के भीतर प्रवेश कर सकता है। शुक्ल जी की दृष्टि में वह काव्य, जिस से समाज का हित न हो, किसी काम का नहीं। यही कारण था कि शुक्ल जी रीति कालीन साहित्य की प्रशंसा न कर सके। इसी लोक-मंगल-भावना की दृष्टि से शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास को हिन्दी का आदर्श कवि माना है।

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से आचार्य शुक्ल जी काव्य में

प्रेषणीयता (Communicability) का होना आवश्यक मानते हैं। भावुकता का ही दूसरा नाम प्रेषणीयता है। टालस्टॉय के शब्दों में प्रेषणीयता की व्याख्या इस प्रकार है :—"Art is an activity by which a person, having experienced a feeling intentionally transmits it to others" अर्थात् "काव्य के माध्यम से स्वानुभूत भाव की अन्य व्यक्तियों को भी अनुभूति करा देना प्रेषणीयता है।" प्रेषणीयता अथवा साधारणीकरण काव्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस के अन्तर्गत कवि की अनुभूति उस की अपनी अनुभूति मात्र न रह कर सर्वजन की अनुभूति बन जाती है। इस अवस्था को साधारणी-करण की अवस्था कहते हैं। काव्य की इस अवस्था पर हम स्वतंत्र रूप में आगे चल कर विवेचन करेंगे। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि शुक्ल जी किसी काव्य-कृति की आलोचना करते समय उस में साधारणीकरण की अवस्था का होना अपेक्षित समझते हैं। यह तो हुआ काव्य में अनुभूति का स्थान। अनुभूति के अतिरिक्त शुक्ल जी काव्य में कल्पना और भावुकता को भी स्थान देते हैं। किन्तु शुक्ल जी अनुभूति को वस्तुतः लौकिक मानते हैं। उन के अनुसार यह नाना रूपात्मक समस्त जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति (Manifestation of God.) है। और काव्य इस जगत् से सम्बन्धित होने के कारण इसी अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति हुआ। शुक्ल जी की इन धारणाओं में कुछ न्यूनताएँ हैं जिन का उल्लेख हम प्रश्न के अन्त में करेंगे।

अपनी पुस्तक, "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में हिन्दी-गद्य-साहित्य की वर्तमान गति का उल्लेख करते हुए आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं, "इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष-कथन के आगे बढ़ कर कवियों की

विशेषताओं और उन की अन्तः-प्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान गया"। इस के आगे उन्हों ने तुलसी, सूर और जायसी पर की गई अपनी विस्तृत आलोचनाओं का उल्लेख किया है। अब अपने ही इतिहास में यदि वे आगे चलकर स्वयं कहते कि हिन्दी में समालोचना के इस आधुनिक आदर्श की स्थापना का बहुत बड़ा श्रेय उन्हीं को है, तो पाठक एव आलोचक एक-दम चिल्ला उठते कि शुक्ल जी अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बन रहे हैं। परन्तु इस में दो मत नहीं हो सकते कि हिन्दी समालोचना के इस आधुनिक आदर्श के संस्थापक एवं प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल जी ही थे।

श्रीयुत रामबहोरी शुक्ल जी अपनी पुस्तक, "हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास" में आचार्य शुक्ल जी के आलोचना-क्षेत्र को तीन भागों में विभाजित करते हैं। प्रथम भाग के अन्तर्गत उन की व्यक्तिगत, कवि या कृति की आलोचना आती है। इस भाग में शुक्ल जी की तीन आलोचनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं—तुलसी, सूर और जायसी की आलोचना। इन कवियों की आलोचनाओं में आचार्य ने इन की कृतियों एवं व्यक्तित्व की अत्यन्त मार्मिक आलोचना प्रस्तुत की है। इन कवियों की समीक्षाओं से न केवल इन्हीं के काव्य का उत्कृष्ट-विवेचन सामने आता है, प्रत्युत अन्य कवियों की कला-कृतियों का सौंदर्य भी प्रकट हो जाता है। शुक्ल जी की ये व्यावहारिक आलोचनाएँ आलोचना के तुलनात्मक तत्त्व को भी साथ ले कर चली हैं। किन्तु शुक्ल जी ने केवल तुलना के लिए तुलना नहीं की है। वरन् उन्हों ने यह अपेक्षित समझा कि इन तीन आलोच्य-कवियों और उन के काव्यों के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य कवियों का स्थान भी हिन्दी-साहित्य में निश्चित हो जाए। इसी लिए

उन्हों ने कवीर, विहारी आदि को भी कहीं-कहीं ले लिया है। उन्हों ने अपने समकालीन आलोचकों की भाँति तुलना को साध्य न वना कर, उसे सावन रूप में ही लिया है। प्रसंगानुकूल उस का संक्षिप्त विवेचन किया है और तुलना करते समय शुक्ल जी विशेप रूप से तटस्थ और सहृदय रहे हैं। इन आलोचनाओं में प्रथम वार कवियों की विशेपताओं का अन्वेपण और उन की अन्तः-प्रवृत्तियों का उद्घाटन हिन्दी-समालोचना-साहित्य में आचार्य शुक्ल जी द्वारा किया गया। यहाँ आचार्य जी ने प्राचीन भारतीय रस-पद्धति के साथ पाश्चात्य आलोचना-पद्धति का मिश्रण कर के इन कवियों के काव्य-सौंदर्य को साहित्य-जगत् के सम्मुख रखा है। पश्चिमी-समालोचना-पद्धति में रचनाकार की जीवनी, विपय का इतिहास एवं तत्कालीन समाज को दृष्टि में रख कर आलोचना की जाती है। शुक्ल जी ने इन सभी वातों को दृष्टि में रख कर भारतीय समीक्षा-प्रणाली के मिश्रण से अपनी समीक्षा-पद्धति का निर्माण किया। नन्द दुलारे वाजपेयी के शब्दों में शुक्ल जी ने, "रस और अलंकार शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को वना रहने दिया। उन्हों ने उच्चतर जीवन-सौंदर्य का पर्याय वना कर रस और अलंकार-पद्धति का व्यवहार किया। जहाँ तक उन की प्रयोगात्मक आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उन के ऊँचे काव्य-सौंदर्य के साथ रस और अलंकार का विन्यास कर के रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया—हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक-भूमि पर प्रतिष्ठित करने में युग-प्रवर्तक का कार्य किया।" इस के अतिरिक्त शुक्ल जी की

समीक्षा-पद्धति की एक अन्य विशेषता यह है कि शुक्ल जी व्याख्यात्मक आलोचना में अनेक-स्थानों पर अपने कुछ सिद्धान्तों को देते चलते हैं । जैसे, किसी प्रवन्धकार कवि की भावुकता का पता लगाना हो तो शुक्ल जी के इन शब्दों में लगा सकेंगे :—"प्रवन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।"

इसके पश्चात् हम शुक्ल जी द्वारा की गई तुलसी, सूर और जायसी की आलोचनाओं के सम्बन्ध में आलोचकों की कतिपय धारणाएँ व्यक्त करेंगे।

शुक्ल जी ने "त्रिवेणी" में सूर, तुलसी और जायसी की विशद आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। ये आलोचनाएँ हिन्दी समीक्षा-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। यहाँ शुक्ल जी आलोचनात्मक-शैली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। कुछ लोग शुक्ल जी को तुलसीदास का अन्ध-भक्त बताते हैं, जो ठीक नहीं जान पड़ता। शुक्ल जी ने तो लिखा है कि "तुलसी के मुकावले में 'सूर' का काव्य-क्षेत्र सीमित है, लेकिन उन में ऊँचे दर्जे की तन्मयता हैं।" शुक्ल जी की इस उक्ति में सूरदास को कहीं फटकारा नहीं गया है। तुलसी की तुलना में सूरदास जी को नीचे नहीं गिराया है। शृंगार और वात्सल्य के चित्रण में तो शुक्ल जी सूर को अप्रतिम कवि मानते हैं"। शुक्ल जी स्पष्ट कहते हैं कि "तुलसी ने सूरदास की देखादेखी "गीतावली" में जो वाल-लीला का वर्णन किया है, उस में तुलसी, सूरदास जैसी वाल-सुलभ-भावों की प्रचुरता लाने में असमर्थ रहे हैं। शुक्ल जी स्वीकार करते हैं कि सूर तुलसी से भी अधिक एक ही रस में नए प्रसंगों की उद्भावना करते हैं। वाकी रहो सूर के क्षेत्र को सीमित वताने की वात,

इस के उत्तर में कोई भी व्यक्ति तुलसी और सर के साहित्य का सम्यक् अध्ययन एवं मनन करके यही कहेगा कि सूर का काव्य-क्षेत्र सीमा में तुलसी के काव्य-क्षेत्र से छोटा है। अतः शुक्लजी पर तुलसी की अंध-भक्ति का आरोप लगाने वाले भ्रम में हैं। सूर की अद्वितीय प्रतिभा से चकित हो कर शुक्ल जी लिखते हैं,—"सूरसागर" किसी चली आती हुई रीति-काव्य-परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" बात यह है कि शुक्ल जी ने केवल 'भ्रमर गीत सार' की भूमिका लिखी थी।

सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन एवं विवेचन वे नहीं कर पाए थे, इस ओर उन्हों ने भूमिका के अन्त में संकेत भी किया है। शायद इसी कारण उन्हें तुलसी की तुलना में सूर का क्षेत्र आवश्यकता से अधिक सीमित लगा हो। फिर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में शुक्ल जी सूरदास की प्रतिभा से चकित हुए हैं। शुक्ल जी ने जीवन की अनेक-रूपता के चित्रण में तुलसी को सूर से श्रेष्ठ बताया है, यह वस्तुतः ठीक भी है। परन्तु शुक्ल जी की यह धारणा कि सूर अपने समय की समस्याओं एवं परिस्थितियों के प्रति उदासीन थे, हमें जँचती नहीं है। शुक्ल जी की इस धारणा का खंडन राम-विलास शर्मा ने भी किया है।

शुक्ल जी हिन्दी-कवियों में यदि किसी को आदर्श कवि घोषित करते हैं तो वे थे भक्त-चूड़ामणि कविवर गोस्वामी तुलसीदास। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में :—"शुक्ल जी की जिस रचना में सब से ज़्यादा असगतियाँ और अन्तर्विरोध हैं, वह तुलसीदास पर उन की पुस्तक है। साथ-ही तुलसी और उन के युग को समझने के लिए जितनी मौलिक स्थापनाएँ यहाँ

हैं, उतनी हिन्दी की किसी भी दूसरी आलोचना-पुस्तक में नहीं है।" सूर, तुलसी और जायसी की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन कर के शुक्ल जी रीतिकाल की दरबारी साहित्य-धारा से उन की भिन्नता बताते हुए एक नवीन उद्भावना की स्थापना करते हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार की अनेक नवीन उद्भावनाओं को शुक्ल जी ने स्थापित किया है। तुलसीदास की तुलना में शुक्ल जी, सूर, जायसी और कबीर को गौण स्थान देते हैं तो इस का एक कारण है। तुलसी का भाव-क्षेत्र इन सब से व्यापक है। इन सब से अधिक तुलसी मानव करुणा से प्रभावित हैं। तुलसी के "राम चरित-मानस" की, जो भारतीय-जनता के कण्ठ का आज भी हार बना हुआ है, शुक्ल जी इन शब्दों में लोक-प्रियता एवं उत्कृष्टता प्रतिपादित करते हैं :—"कथाएँ तो और भी कही जाती हैं, पर जहाँ सब से अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइये, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के 'मानस' का अधिकार इतने ही से समझा जा सकता है।" इसी प्रकार तुलसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन शुक्ल जी इन शब्दों में करते हैं :—"यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सब से अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सब से बड़ा कवि कौन है तो उस का एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कण्ठ, भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।" 'एकमात्र उत्तर' कह कर शुक्ल जी ने अपने मत का निर्णय दे दिया है।

प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवि जायसी की भूमिका भी आचार्य शुक्ल जी ने लिखी है, जिस की प्रशंसा डा० राम-विलास शर्मा नीचे लिखे शब्दों में करते हैं। शर्मा जी के इन शब्दों से शुकल जी की

आलोचना-पद्धति और उन के द्वारा की गई नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। डा० रामविलास लिखते हैं :—"जायसी की भूमिका शुक्ल जी की बहुत ही शानदार आलोचनाकृतियों में से है। लगता है, इसे उन्होंने प्रेम से और फ़ुर्सत में बैठ कर लिखा है। उन की विद्वत्ता, आत्म-विश्वास, वैज्ञानिक अनुसंधान अपने सब से निखरे हुए रूप में यहाँ दिखाई देते हैं। यहाँ शुक्ल जी ने एक ऐसे कवि को, जिसे हिन्दी के पाठक बहुत कम जानते थे, तुलसीदास के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ कवि घोषित किया है। इस तरह शुक्ल जी ने हमारे सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन को और समृद्ध किया है, साहित्य के इतिहास के क्षितिज को और विस्तृत किया है। यहाँ उन के तुलनात्मक-अध्ययन की पद्धति खुल कर अपनी विशेषता प्रकट करती है ..... साथ ही उन्होंने अपने सुदीर्घ अध्ययन और चिन्तन के फल-स्वरूप साहित्य के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें भी अयाचित ही पाठक को जहाँ-तहाँ देते चलते हैं। जायसी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दार्शनिक विचार कलात्मक मूल्य आदि का विवेचन हिन्दी के अनुसंधान-साहित्य में एक नये अध्याय का सूत्रपात करता है। अवधी की चर्चा करते हुए उन्होंने भाषा-विज्ञान की समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं और हर जगह वाक्पटु, तर्क-शास्त्री किन्तु सरस-हृदय और विनोदी शुक्ल जी के व्यक्तित्व की जैसी छाप यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र नहीं।" इसके साथ ही डा० राम विलास यह भी कहते हैं कि, "जायसी की भूमिका में शुक्ल जी ने निर्गुण-पंथियों को कहीं-कहीं लोक-विरोधी तक कह डाला है; वह उन्हीं की स्थापनाओं के विरुद्ध बैठता है।" यहाँ शुक्ल जी के कथन में असंगति दिखाई गई है। यह तो हुई कविवर जायसी

के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा की धारणा। हम तुलसी के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि शुक्ल जी ने तुलसी को भक्त-चूड़ामणि और भारती-कण्ठ कह कर उनकी उत्कृष्टता ही प्रतिपादित नहीं की है, अपनी पुस्तक, "गोस्वामी तुलसीदास" के अन्तिम पृष्ठों में तुलसी में कुछ खटकने वाली बातों का उल्लेख भी किया है। यदि शुक्ल जी तुलसीदास के अन्ध-भक्त होते अथवा उनका पक्षपात करते, जैसा कि कुछ आलोचकों की धारणा है, तो वे तुलसी में इन दोषों का उद्‌घाटन न करते। भक्त को तो अपने भक्ति-भाजन के दोष भी गुण दिखाई देते हैं। वह उसके दोषों की ओर झाँकता भी नहीं और फिर शुक्ल जी को तो तुलसी का अन्ध-भक्त कहा जाता है। जब भक्त को ही अपने भक्ति-भाजन के दोष दिखाई नहीं देते, तो अन्ध-भक्त को दोष दिखाई देने का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्ध भक्त की तो आँखें ही उनके दोषों की ओर से बन्द होती हैं। परन्तु शुक्ल जी ने तो यथास्थान तुलसी के दोषों का उद्‌घाटन किया है। शुक्ल जी को तुलसी का उत्कृष्ट काव्य देख कर आनन्द का अनुभव अवश्य होता है जो किसी सुन्दर वस्तु को देख कर किसी को भी हो सकता है। शुक्ल जी ने तुलसी की कुछ प्रमुख खटकने वाली बातें इस प्रकार बताई हैं:—प्रथम खटकने वाली बात तुलसी के काव्य में शुक्ल जी के मतानुसार यह है कि तुलसी में ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता है। इस दोष से कोई विरला ही बच सकता है, क्योंकि लेखक की कृति में उस के अपने युग का आभास आ ही जाता है। तुलसी ने ऋषियों के आश्रमों और विभीषण के द्वार पर तुलसी का पौधा लगाया है और भगवान् राम के मस्तक पर रामानन्दी तिलक लगवाया है। राम का समय वैदिक काल था, उनके समय में लोगों को न तो

रामानन्दी तिलक की महिमा का ज्ञान था और न ही तुलसी के पौधे की महिमा उन्हें पता थी। इसके अतिरिक्त राम के सिर पर रखी गई चौगोशिया टोपी का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

शुक्ल जी के मतानुसार दूसरा दोप उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"भक्ति सम्प्रदाय वालों की इधर को कुछ भक्तमाली कथाओं पर गोस्वामी जी ने जो आस्था प्रकट की है, वह उनके गौरव के अनुकूल नहीं है।

तीसरा दोप शुक्ल जी यह बताते हैं कि तुलसी ने राम के नाम-प्रताप को राम-प्रताप से भी बड़ा बताया है, जिस का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। शुक्ल जी के शब्दों में, "सच्ची भक्ति से कोई मतलब नहीं, टीका लगा कर केवल 'राम-राम' रटना बहुत से आलसी अपाहिजों का काम हो गया। एक धनाढ्य महत जिस गाँव में छापा डालते हैं, वहाँ के मजदूरों को बुला कर उन से दो-तीन घंटे राम-राम रटाते हैं, और जितनी मजदूरी उन्हें खेत में काम करने से मिलती, उतनी गाँव वालों से वसूल कर के दे देते हैं"। इस प्रकार शुक्ल जी का मत है कि राम के प्रताप में विश्वास करना ही सच्ची भक्ति का लक्षण है, केवल राम का नाम-मात्र रटना मनुष्य को आलसी और निठल्ला बना देता है।

चौथा दोप आचार्य जी कवि के कला-पक्ष में यह निकालते हैं। तुलसी ने अपने दोहों में कहीं-कहीं मात्राएँ कम कर दी हैं और उन के सवैयों में भी कुछ स्थानों पर वर्णों की घटा-बढ़ी हुई है।

पाँचवाँ और अन्तिम दोप शुक्ल जी यह बताते हैं कि रावण-अंगद-संवाद राज-सभा के गौरव और सभ्यता के विरुद्ध है। इस में रावण और अंगद दोनों शिष्टाचार की सीमा लाँघ

गए हैं। दोनों के मुख से स्थान-स्थान पर अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करवाया गया है। यहाँ आचार्य शुक्ल जी तुलसी पर दोष लगा कर स्वयं उस का परिहार भी कर देते हैं। शुक्ल जी कहते हैं कि, "इस का मतलब यह नहीं कि गोस्वामी राजन्य-वर्ग की शिष्टता का चित्रण नहीं कर सकते थे। राज समाज के सभ्य भाषण का अत्यत सुन्दर नमूना उन्हों ने चित्रकूट में एकत्र सभा के बीच दिखाया है। पर राक्षसों के बीच शिष्टता, सभ्यता आदि का उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।" यहाँ हम एक बात कह सकते हैं कि जब तुलसी दास ने हर स्थान पर राम और राम-भक्तों की महिमा और शिष्टता दिखाई है, तो वे यहाँ क्यों चूक गए ? रावण से न सही, उन्हें राम-भक्त अंगद के मुख से तो अशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं कराना चाहिए था। इस प्रकार आचार्य शुक्ल जी के आलोचना-क्षेत्र के प्रथम भाग के अन्तर्गत तुलसी, सूर तथा जायसी की आलोचना का स्वरूप देखने के पश्चात् हम उन की आलोचना के दूसरे भाग पर विचार करेंगे।

आचार्य शुक्ल जी की आलोचना का दूसरा भाग सैद्धान्तिक आलोचना के रूप में प्राप्त होता है। सैद्धान्तिक आलोचना में आचार्य जी ने संस्कृत और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों की आलोचना प्रस्तुत की है। यहाँ आचार्य जी ने दोनों प्रकार के काव्य-सिद्धान्तों में कुछ सिद्धान्तों का खंडन एवं विरोध किया है और उन में से कुछ को लेकर उन का विकास भी किया है। शुक्ल जी मूलतः रसवादी हैं। रस-सिद्धान्त के पक्षपाती होते हुए भी उन्हों ने अपनी आलोचना में व्याख्यात्मक समीक्षा-प्रणाली को अपना कर किसी कवि विशेष के काव्य

-सौंदर्य को बिना किसी विशिष्ट सिद्धान्त-आग्रह के परखा है। यहाँ उन की मौलिक एवं गम्भीर आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। श्रीयुत राम बहोरी शुक्ल जी के शब्दों में शुक्ल जी की आलोचनात्मक-प्रतिभा की उत्कृष्टता हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—"शुक्ल जी सहृदय आलोचक हैं और उन की काव्य की पकड़ मार्मिक है। ऐसा आलोचक जिस कवि पर रीझ जाए, वह धन्य है। शुक्ल जी की भाषा और शैली भी इन की गम्भीर समीक्षा-पद्धति के अनुरूप है। इन की रचनात्मक प्रतिभा इन के सहृदय व्यक्तित्व को प्रकट करती है। शुक्ल जी न केवल हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में, वरन् भारतीय और विश्व की आलोचना के अन्तर्गत प्रमुख सिद्ध होंगे।"

सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल जी ने जहाँ सैद्धान्तिक समीक्षा की पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ उन्हों ने इन सिद्धान्तों का विवेचना के लिए "कविता क्या है", "काव्य में साधारणीकरण" आदि समीक्षात्मक निबन्धों की भी रचना की है। इन निबन्धों में उन सिद्धान्तों की विवेचना की गई है जो उत्कृष्ट साहित्य-रचना का आधार माने जाते हैं। सैद्धान्तिक आलोचना में उन्हों ने अधिकतर काव्य पर ही विशेष रूप से विचार किया है। वैसे उन के कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध एवं आलोचना-सम्बन्धी विचार भी उपलब्ध होते हैं।

शुक्ल जी के आलोचनात्मक-क्षेत्र का तीसरा भाग ऐतिहासिक आलोचना के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार की आलोचना में आचार्य जी ने साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिपार्श्व में युगों से चली आ रही साहित्यिक धाराओं का

विश्लेषण एवं विवेचन प्रस्तुत किया है। इस में युग की परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसी ऐतिहासिक-पद्धति के साथ गवेषणात्मक, व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति के आधार पर अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का इतिहास" की रचना की है। इन समीक्षापद्धतियों के प्रयोग के साथ-साथ शुक्ल जी अपनी व्यक्तिगत रुचि का परिचय भी देते चलते हैं। अर्थात् उन के इतिहास में कवियों के समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक साहित्यिक और सांस्कृतिक परिस्थितयों का विश्लेषण मिलता है। साथ ही प्रत्येक युग में प्रचलित आदर्शों तथा उद्देश्यों की समीक्षा भी प्राप्त होती है। शुक्ल जी के इतिहास में यथासमय प्रायः सभी समीक्षापद्धतियों का प्रयोग हुआ है, किन्तु ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किसी साहित्य के इतिहास-लेखन में अन्य समीक्षा-शैलियों की अपेक्षा प्रायः अधिक करना पड़ता है। शुक्ल जी इस प्रयोग में सफल रहे हैं। वैसे सब मिलाकर आचार्य शुक्ल जी की समीक्षा-शैली को समन्वयात्मक समीक्षा-शैली कहना ही समीचीन जान पड़ता है।

आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने समीक्षा-क्षेत्र में पदार्पण कर के समीक्षा के नवीन आदर्शों की स्थापना की। यह ठीक है कि इन आदर्शों का महत्त्व हिन्दी-साहित्य-जगत् में सदा रहेगा, परन्तु आचार्य जी की कुछ धारणाएँ परवर्ती लेखकों और आलोचकों को मान्य नहीं हुई। इसी अमान्यता के कारण उन पर कई आरोप लगाए गए। किसी ने कहा—शुक्ल जी 'ब्राह्मणवादी हैं'। किसी ने उन्हें 'एकांगी समाजशास्त्री' का फ़तवा दिया; किसी ने "आउट आफ़ डेट" घोषित किया; किसी को उन का "अंग्रेजी चीज़ों का अनुवाद" करना खल

गया और जिन्हें अन्य कोई आरोप नहीं मिला; उन्हों ने उन्हें 'मध्यवर्ग के संस्कारों से पीड़ित' बता कर शुक्ल-विरोधी समीक्षकों की सूचि में अपना नाम दर्ज करवा लिया। शुक्ल जी जिन्हों ने हिन्दी-समालोचना को नवीन मार्ग दिखाया; जिन्हों ने साहित्य-प्रेमियों के सामने वह कुछ रखा जिसे कोई अन्य न रख सका; जिन्हों ने समीक्षा के नए मान-दंड समीक्षकों के सम्मुख रखे; जिन की नकल आज भी किसी न किसी रूप में की जा रही है, जिन का साहित्य का इतिहास अब तक और आगे लिखे जाने वाले हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रथों के लिए नींव का पत्थर बना रहा है और बना रहेगा, इतने आरोपों के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। कहीं-कहीं इतना अवश्य हुआ है कि आचार्य शुक्ल जी ने कुछ धाराणाएँ एवं विचार ऐसे प्रकट कर दिए हैं जो उन की वैयक्तिक रुचि के परिचायक होने के कारण मान्य नहीं हो सके। इस आधार पर उन की धारणाओं में कुछ न्यूनताएँ अवश्य परिलक्षित होती हैं। उन की विवेचना करने का भी हम प्रयास करेंगे।

शुक्ल जी कवि की अनुभूति को अनिवार्यतः लौकिक मानते हैं। वे जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं और कवि की अनुभूति को लौकिक मानने के कारण काव्य को इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। हम प्रायः देखते हैं कि साहित्य तो अलौकिक अनुभूतियों को भी प्रदर्शित करता है—विशेष कर वैष्णव और सूफी साहित्य। अब यदि शुक्ल जी के मतानुसार कवि की दृष्टि को इसी जगत् तक सीमित मान लिया जाए, तो हमारा सारा रहस्यावादी साहित्य व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। यहाँ आ कर शुक्ल जी के मानदंड सीमित दिखाई देने लगते हैं। इस के अतिरिक्त शुक्ल जी का दृष्टिकोण

नीतिवादी है। अतः इस सुरुचि और नैतिकता के आग्रह (जो उन की स्वतंत्र अभिरुचि का परिचायक है।) ने भी उन के मानदंडों को सीमित कर दिया है। उन के इस वैयक्तिक आग्रह को आधुनिक आलोचक स्वीकार नहीं करते।

शुक्ल जी के मतानुसार महाकाव्य, उपन्यास, कहानी आदि के नायक को शील-शक्ति-सौंदर्य-सम्पन्न होना चाहिए, जो आज के आलोचकों को मान्य नहीं। आधुनिक नायक-सम्बन्धी धारणा यह है कि नायक कैसा भी हो, देखना केवल यह है कि लेखक की सहानुभूति किस के साथ है ? आधुनिक धारणा के अनुसार बुरे से बुरा व्यक्ति भी नायक बन सकता है।

इस प्रकार ये शुक्लजी की कुछ सीमाएँ हैं जिन के कारण उन के समीक्षा के मान-दंडों के आधार पर उन के समय के साहित्य की तो समीक्षा हो सकती है, आगे आने वाले छायावादी युग एवं प्रगतिवादी-युग के साहित्य के लिए शुक्ल जी के मान-दंड पर्याप्त न सिद्ध हो सके। शुक्ल जी अपने सामने प्रकट होने वाले नवीन साहित्य के प्रति सहानुभूति न दिखा सके। उन्होंने गीति-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को सराहा। इसी प्रकार छाया-वादी-काव्य के प्रति भी उन का दृष्टिकोण कुछ स्वस्थ नहीं दिखाई दिया। परन्तु उन के इस विरोध के रहते हुए भी यह साहित्य आगे बढ़ता गया। इस छायावादी साहित्य का मूल्यांकन शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति पर नहीं हो सका। वैयक्तिकता, शृंगारिकता, मानवीकरण, कुछ रहस्यवादी संकेत आदि छायावादी-काव्य की विशेषताएँ थीं। व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। एक तो समष्टि से हट कर अपने में ही केन्द्रित हो जाता है और दूसरा अपनी ही भावनाओं का सारी

प्रकृति में दर्शन करता है। यह व्यक्तिवाद थोड़ा विकसित हो कर सर्वात्मवाद (Pantheism) का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार द्विवेदी-युग के पश्चात् साहित्य में नितान्त रूप से परिवर्तन हो रहे थे और उस भिन्न प्रकार के साहित्य के जन्म पर एक नए समीक्षक की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी थी। शुक्ल जी द्वारा मान्य नैतिकता तथा सुरुचि की परवाह न कर के छायावादी समीक्षक सौष्ठववाद (सौन्दर्यवाद) को ले कर आगे बढ़ा। इस नवीन नवजात बालक छायावाद ने शुक्ल जी की नैतिक लोकादर्शवादिनी प्रबन्धकाव्योचित समीक्षा की उस ऐनक की परवाह नहीं की जिस में से वे इसे देख रहे थे। छायावाद अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नए मान ले कर आया। सौष्ठव अथवा सौंदर्य इस छायावादी-युग के काव्य और समीक्षा की मूल-प्रेरणा बना रहा।

इस के पश्चात् मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-शैली और प्रगतिवादी आलोचना पद्धति का जन्म हुआ और आज हमारी समीक्षा-शैली प्रयोगवाद के झूले पर झूल रही है।

आचार्य शुक्ल जी की इन सीमाओं के रहते हुए भी हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि आचार्य शुक्ल जी हिन्दी-समीक्षा-साहित्य के विकास में ऐसी अवस्था के परिचायक हैं जिस अवस्था में आलोचना की एक पद्धति अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाती है और व्यापक दृष्टि से देखने पर, परवर्ती-काल की अनेक समीक्षा-पद्धतियां इसी समीक्षा-पद्धति का आधार ले कर चल रही प्रतीत होती हैं। आलोचक शुक्ल जी का महत्त्व कविवर निराला की इन पंक्तियों से भली-भांति समझा जा सकता है, जिन में यह व्यक्त किया गया है कि शुक्लजी के आगमन से पूर्व हिन्दी-आलोचना क्या थी और शुक्ल जी के आलोचना-

क्षेत्र में पदार्पण करने के पश्चात् उस का क्या स्वरूप था! निराला ने आलोचक शुक्ल जी के व्यक्तित्व को इन दो पंक्तियों में बन्द कर के रख दिया है। कविवर लिखते हैं :—

"अमानिशा थी समालोचना के अम्बर पर।
उदित हुए जब तुम, हिन्दी के दिव्य कलाधर।"

समालोचना के आकाश पर आलोचक शुक्ल जी ने हिन्दी का दिव्य सुधांशु बन कर अपनी प्रतिभा की ज्योत्स्ना बिखेर दी।

# इतिहासकार

किसी देश के साहित्य के इतिहास को जानकारी प्राप्त करने के लिए उस देश के इतिहास, राजनीति, धर्म एवं संस्कृति की जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि, जिस देश की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थिति जैसी होगी, उस का साहित्य भी उसी के अनुरूप होगा। सब से पहले इतिहास का जानना साहित्य के इतिहास की खोज करना है। साहित्य के इतिहास में युगों से चली आ रही परिवर्तन एवं विकासशील विचारधाराओं एवं प्रवृत्तियों का सम्यक् अध्ययन सम्भव होता है, अतः साहित्य के इतिहास की उपयोगिता यह माँग करती है कि अन्य समृद्ध देशों की भाँति हमारे साहित्य का भी एक इतिहास हो, जिस से हम भी अपनी चिर-संचित ग्रंथ-राशि की प्रामाणिकता का सबूत दे सकें। परन्तु, हिन्दी-साहित्य के इतिहास के बारे में, हमें इस सम्बन्ध में निराशा का ही मुँह देखना पड़ रहा है। खेद है कि आज तक भी हमें अपने साहित्य का कोई ऐसा सुव्यवस्थित तथा निश्चयात्मक इतिहास-ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका है जिसे हम प्रामाणिक इतिहास का नाम दे सकें। आरम्भ से ही हमारे इतिहास-लेखन के मार्ग में कुछ ऐसी जटिल कठिनाइयाँ आती रही हैं जिन के कारण इतिहास में प्रामाणिकता की समस्या सदा बनी रही है। आचार्य शुक्ल जी के इतिहास के विषय में विचार करने से पूर्व इन कठिनाइयों के सम्बन्ध में कुछ कह देना असंगत न होगा।

हमारे साहित्य में बहुत से ग्रंथ ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिन

की पाठ्य-सामग्री आज तक भी संदिग्ध है । उदाहरणार्थ—गोरखनाथ का समय, सूरदास की जन्म-तिथि, कबीर का जीवन इत्यादि । 'नागरी प्रचारिणी सभा' के भगीरथ-परिश्रम के फल-स्वरूप जो ग्रंथ सम्पादित हुए हैं, उन की पाठ्य सामग्री कुछ निश्चित सी कही जा सकती है, किन्तु अन्य ग्रंथों का पाठ कुछ स्थानों पर अत्यंत भ्रमपूर्ण है । "सूरसागर" जैसे लोक-प्रिय एवं महान् ग्रंथ का पाठ अभी तक अत्यंत संदिग्ध कहा जाता है । कबीर और मीराँ के पाठ्य-भाग तो प्रामाणिक कहे ही नहीं जा सकते, क्योंकि लोगों ने इन कवियों की पद-रचना-शैली के साम्य पर अनेक पद बना कर पीछे से इन के नाम जोड़ दिए हैं, जिस के कारण प्रक्षिप्त अंशों की भरमार हो गई है ।

इसी प्रकार जगनिक का "आल्हा-खण्ड" भी अप्रामाणिक ठहराया गया है । उस में भी प्रक्षिप्त अंशों का प्राचुर्य पाया जाता है । ये कठिनाइयाँ क्यों उत्पन्न हुई, इस के कुछ कारण थे । खेद का विषय है कि हमारे यहाँ इतिहास लिखना आवश्यक ही नहीं समझा गया । इस की प्रथा ही नहीं थी । यदि कहीं कतिपय घटनाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में किसी ने कुछ विवरण दे ही दिया है तो उस में भी लेखक ने उन घटनाओं के घटना-काल की तिथियों को कोई महत्त्व नहीं दिया है । इस का उन्हें अभ्यास ही नहीं होता होगा, ऐसा लगता है । इस का उदाहरण हमें नाभादास के "भक्तमाल" में मिलता है । दूसरे, कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा । सम्भवतः या तो वे अत्यधिक नम्र थे, या फिर भौतिक संसार को मिथ्या जानते हुए उन्हों ने अपनी दृष्टि को किसी अलौकिक सत्ता पर गड़ा रखा था, शायद इसी लिए इस मिथ्या जगत में वे अपने अस्तित्व की कोई निश्चित तारीख छोड़कर

नहीं जाते थे। "कवित विवेक एक नहिं मोरे", या फिर "हौं प्रभु सव पतितन कौ टीकौ" की रट लगा कर उन्हों ने अपनी क्षुद्रता एवं हीनता का प्रदर्शन किया है। "कवित विवेक" के साथ ही उन्हें शायद तिथि-विवेक भी नहीं था, इसी लिए उन्हों ने तिथियाँ नहीं दीं। परन्तु जव 'कवित विवेक' के न होते हुए भी उन्हों ने विस्तृत काव्य-रचना की है, तो तिथि-विवेक न होते हुए भी, उस का कुछ संकेत तो कर देते। आचार्य केशव जी से पूर्व तिथि-सम्वन्धी तथा अपना यथेष्ट-परिचय-सम्वन्धी यह विवेक किसी कवि को नहीं हुआ। इसी लिए केशव से पूर्व के किसी कवि का यथेष्ट परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। रीतिकाल के कवियों ने अपना पर्याप्त परिचय दिया है। कवियों का पूर्ण परिचय अप्राप्त होने के कारण, इतिहास में उन के सम्वन्ध में लिखते हुए कभी-कभी "लगभग" शव्द की शरण जाना पड़ता है और कभी वाह्य-साक्ष्य से उपलव्ध सामग्री की। तिथियों का अनिश्चयात्मक रूप इतिहास के काल-विभाजन के प्रश्न को कठिन वना देता है। तीसरे, हमारे ये अप्रामाणिक कहे गए अनेक ग्रन्थ सुदीर्घ काल तक मौखिक रूप में रहे। परिणाम-स्वरूप समयानुसार भापा में परिवर्तन होने के कारण इन ग्रन्थों में भी परिवर्तन होते गए। "आल्हा-खण्ड", शुक्ल जी के शव्दों में, "एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उस के वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरी भारत में — विशेपतया उन सव प्रदेशों में, जो कन्नौज-साम्राज्य के अन्तर्गत थे—हो गया।" वे आगे लिखते हैं, "इस प्रकार साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक वल खाती हुई अव तक चली आ रही है।" इसी प्रकार मीरां और कवीर के पद भी

अधिक लोकप्रियता के कारण जनता में गाए गए और क्रमशः उन के पदों में भी समय की गति के साथ-साथ परिवर्तन होता गया। चौथे, अभी प्राचीन हस्त-लिखित-ग्रन्थ प्रचुर रूप में प्राप्त नहीं हो सके हैं, जिन के आधार पर प्राचीन ग्रन्थों पर कुछ प्रकाश पड़ सके। नागरी-प्रचारिणी-सभा इस क्षेत्र में खोज कर के अत्यन्त प्रशंसनीय काम कर रही है, इस में सदेह नहीं; किन्तु इस क्षेत्र में अभी अत्यन्त गहन खोज की आवश्यकता है। उदाहरण-स्वरूप चन्दविरचित 'पृथ्वीराजरासो'' की प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों की पर्याप्त सख्या के अभाव के कारण, 'रासो' की भाषा, विविधता, सन्-सम्वतों की अस्तव्यस्तता तथा नामों की उच्छृंखलता, आज के हिन्दी-साहित्यिकों के मस्तिष्क में विवाद और संदिग्धता पनपा रही है। ''महान् इतिहासकार डा० गौरीशंकर हीराचन्द 'ओझा' और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के घने तर्क-वितर्क के वाद भी हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाए हैं। अभी अनुसधान का अधूरापन खटकता है। किन्तु रीतिकालीन कवियों के पर्याप्त जीवन-परिचय के अतिरिक्त उन की कृतियों की तिथियाँ तथा घटना-काल हमें निश्चित रूप में मिल जाते हैं। परन्तु रीतिकाल और आधुनिक काल के कवियों का जीवन-परिचय और निश्चित रचनाकाल तो हमारे प्रामाणिक इतिहास-लेखन की आधी समस्या को हल करते हैं। प्रामाणिक इतिहास की रचना तो तभी सम्भव होगी जब प्रथम दो कालों की सामग्री के सम्बन्ध में हमारा अन्वेषण पूर्ण और निश्चयात्मक हो जाएगा। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक तो हमें इस सम्बन्ध में खोज करने वाले विद्वानों की सम्मतियों के आधार पर ही अपना निर्णय करना होगा।

उपर्युक्त कुछ कठिनाइयों के कारण हिन्दी-साहित्य की प्राप्त सामग्री के आधार पर भी बहुत समय तक किसी को साहित्य का इतिहास लिखने का साहस नहीं हुआ। इसी बात को डा० राम कुमार वर्मा के निम्नलिखित शब्द और भी स्पष्ट कर देंगे। वर्मा जी लिखते हैं :—"हिन्दी-साहित्य के निर्माण-काल के समय (लगभग सं० ७००) से विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी-साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्नराशि के समान पड़ा रहा। किसी ने भी उस के संग्रह करने का प्रयास नहीं किया। किसी काल विशेष के कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा भक्त का परिचय अवश्य दिया है। किन्तु यह सब व्यष्टि रूप में हुआ, समष्टि रूप में नहीं। जैसे जायसी ने अपने पूर्ववर्ती प्रेम काव्य के कवियों का परिचय दिया, नाभादास ने "भक्तमाल" में भक्तों और कवियों का विवरण दिया है और गोकुलनाथ ने "चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता" में पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों का जीवन-चरित्र गद्य में चरितार्थ किया है। इस के अतिरिक्त, कुछ लेखकों द्वारा अनेक कवियों की नामावली और ग्रन्थ भी प्राप्त हुए, परन्तु इन्हें हम इतिहास नहीं कह सकते।" हाँ, इन्हें ऐतिहासिक सामग्री के साधन अवश्य कहेंगे।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य की विकासशील प्रवृत्तियों, विचारधाराओं एवं कवि-परिचय का क्रमगत इतिहास विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी तक नहीं मिलता। भारत-वासियों के लिए कितनी शर्म की बात है कि उन के हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पाश्चात्य विद्वानों ने लिखना आरम्भ किया। हमारी साहित्यिक-रुचि का परिचय इतने से ही मिल जाता है कि अपने साहित्य का इतिहास हम स्वयं न लिखें, और पश्चिम के

विद्वान् उस में रुचि दिखलाएँ ! सर्व प्रथम, फ़ांस के एक लेखक गार्सँ द तासी ने सन् १८३४ में "History of Literature of Hindi and Hindustan" नाम की पुस्तक लिखी। १८३४ पृष्ठों का यह वृहत् ग्रन्थ हिन्दी का सब से प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण इतिहास लेखकों के लिए साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दोनों विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण है। १८८४ ई० में ग्रियर्सन महोदय ने "Modern Varnacular Literature of Northern Hindustan" लिखी, जिस में 'शिवसिंह सरोज' की सामग्री का अधिकतर प्रयाग किया गया, इस में सामयिक परिस्थितियों का सुन्दर दिग्दर्शन किया गया है। इस में कवियों की संख्या लगभग ४५२ है। ग्रियर्सन की इस पुस्तक से पूर्व १८८३ ई० में 'शिवसिंह सेंगर' द्वारा "शिवसिंह सरोज" की रचना हो चुकी थी, जिस में लग-भग १००० कवियों तथा उन के काव्य-सग्रह का वर्णन है। इस की अधिकतर सामग्री का प्रयोग ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक में किया। सन् १९१३ के लगभग मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धुविनोद' अपनी (निजी) खोज तथा नागरी प्रचारिणी सभा की खोज के आधार पर रचना की जिस में आधुनिक काल के कवियों तथा लेखकों का भी समावेश किया गया। यह ग्रन्थ पहले तीन भागों में प्रकाशित हुआ।

इस के पश्चात् सन् १९२९ में श्रीयुत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने "हिन्दी शब्द-सागर" को प्रकाशित करवाया और फिर इसी पुस्तक से "हिन्दी साहित्य का इतिहास" नामक पृथक् पुस्तक लिख दी। आचार्य जी की इस पुस्तक में यह विशेष रूप से दर्शाया गया है कि परिस्थितियों के बदलने से भाषा और भावों में भी परिवर्तन आ जाता है। इस में हमें इतिहास के साथ समालोचना भी प्राप्त होती है। आचार्य शुक्ल जी के इस

इतिहास-ग्रन्थ को सभी ने एक मत हो कर हिन्दी-साहित्य का प्रथम वास्तविक इतिहास स्वीकार किया है, क्योंकि शुक्ल जी के इतिहास से पूर्व, साहित्य में इतिहास के नाम से तीन पुस्तकें मिलती हैं जिन का निर्देश हम ऊपर कर आए हैं—ग्रियर्सन की पुस्तक, शिवसिंह का "शिवसिंह सरोज", और मिश्रवन्धुओं का "मिश्रवन्धु विनोद" । इन तीनों पुस्तकों में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर काल-विभाजन, तथा विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों का विशद विवेचन नहीं प्राप्त होता। अतः ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर शुक्ल जी के इतिहास का विशेष महत्त्व है।

आचार्य शुक्ल जी को अपने इतिहास-ग्रन्थ की प्रेरणा किस प्रकार मिली, इस सम्वन्ध में वे अपनी इस पुस्तक के "प्रथम संस्करण के वक्तव्य में लिखते हैं :—"इधर जव से विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तव से उस के साहित्य के विचार-शृङ्खला-वद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र तथा अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन के सम्यक्-निरूपण तथा उन की दृष्टि से किए गए सुसंगत काल-विभाग के विना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रन्थराशि सामने लगी हुई थी ; पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिन के अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न-भिन्न शाखाओं के हज़ारों कवियों की केवल काल-क्रम से गुँथी उयर्युक्त वृत्तमालाएँ

साहित्य के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं ? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँद कर बांट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।'' यही सब बातें थीं जो आचार्य शुक्ल जी को खटकती हैं। उन के मतानुसार केवल इन्हीं सब बातों के आधार पर इतिहास की रचना नहीं हो सकती। इस के आगे वे लिखते हैं:—''पाँच या छ: वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिए मैं ने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे जिन में परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर के हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढांचा खड़ा किया गया था। 'हिन्दी-शब्द सागर' समाप्त हो जाने पर उस की भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया; अत: एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिख कर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिए जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था, उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रख कर यह कार्य पूरा किया।'' प्रस्तुत वक्तव्य में आचार्य शुक्ल जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे अपने पूर्ववर्ती साहित्य का इतिहास कहे जाने वाले ग्रंथों की रचना-शैली और ढाँचे से सन्तुष्ट न थे। उन की अपनी पुस्तक ''हिन्दी-साहित्य का इतिहास'' कुछ तो उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथों के प्रति असन्तोष और कुछ छात्रों के लिए इतिहास की सामयिक उपयोगिता का परिणाम थी। इस इतिहास में कवियों की संख्या को

इतनी प्रमुखता न दे कर आचार्य जी ने कवियों के साहित्य-गत महत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया है। शुक्ल जी के इस इतिहास-ग्रंथ की शैली, भारतीय लोचन-पद्धति और पाश्चात्य समीक्षा-शैली का समन्वित रूप है। लोचन-पद्धति में आचार्य-पद्धति, टीका-पद्धति; शास्त्रार्थ-पद्धति, सूक्ति-पद्धति और खंडन-पद्धति इन पाँचों समीक्षा-पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में उन के इतिहास में पाश्चात्य-समीक्षा-शैली के साथ इन पाँचों शैलियों का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य समीक्षा-शैली के अनुसार रचनाकार की जीवनी, उस के विषय का इतिहास, तत्कालीन समाज आदि को दृष्टि म रख कर आलोचना की जाती है। इस प्रकार शुक्ल जी के इतिहास में, इतिहास के साथ समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों तथा लेखकों का निरूपण मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, "काव्य-धाराओं का विवेचन जैसा इस इतिहास में है, वैसा अन्यत्र नहीं। कवि और लेखकों की शैली-विशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण कर हमें उस के प्रमाण-स्वरूप उपयुक्त उदाहरण भी मिलते हैं। संवत् १९९७ में इस का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। आधुनिक युग की सामग्री इस में विशेष रूप से जोड़ी गई है जो अध्ययन के साथ एकत्र की गई है।" इस प्रकार इतिहासकार शुक्ल जी ने अपने साहित्य के इतिहास में अपने से पूर्व के विद्वानों की खोज का पूरा लाभ उठाते हुए अपने समय में हो रही खोज का समुचित प्रयोग किया। यही नहीं, उन्हों ने स्वयं भी जायसी जैसे कवियों पर अनुसंधान कर के साहित्य के अध्ययन को सरल बनाया। किन्तु शुक्ल जी का महत्त्व उन के अनुसन्धान-कार्य के कारण इतना नहीं है। उन का

विशेष महत्त्व इस बात में है कि उन्हों ने अपने गहन चिन्तन एवं मनन के पश्चात् साहित्य के अध्ययन की एक सुव्यवस्थित पद्धति की स्थापना की है जो उन से पूर्व कोई न कर सका, और उन के पश्चात् भी परवर्ती इतिहास-लेखकों का मार्ग-प्रदर्शन करती रही। यह आवश्यक नहीं होता कि कोई इतिहासकार अनिवार्यतः एक अच्छा अनुसान्धानकर्त्ता भी हो। यदि हो तो बड़ी अच्छी बात है, फिर तो सोने पर सुहागे का काम हो जाता है। इसी प्रकार कोई अनुसन्धान-कर्ता एक अच्छा इतिहासकार भी हो यह जरूरी नहीं है। अनुसन्धान कर्ता का अनुसन्धान अन्तिम अनुसन्धान नहीं कहा जा सकता, उस में भी प्रामाणिकता अप्रामाणिकता का मतभेद खड़ा हो सकता है, कोई अन्य व्यक्ति नई खोज के आधार पर अपने पूर्ववर्ती अनुसन्धान का खंडन कर सकता है, किन्तु यह सभी अनुसन्धान-कर्ताओं का कार्य नहीं है कि वे साहित्य के अध्ययन की एक व्यवस्थित-पद्धति भी स्थापित कर दें। यह केवल इतिहासकार ही कर सकता है। शुक्ल जी ऐसी सुव्यवस्थित पद्धति की स्थापना में प्रवर्त्तक का कार्य करते हैं।

साहित्य के इतिहास में सब से जटिल समस्या काल-विभाजन की होती है। इसी काल-विभाजन के प्रश्न को लेकर आचार्य शुक्ल जी के इतिहास पर अनेक प्रकार की टीका-टिप्पणी की गई है। इस लिए आचार्य जी द्वारा किए गए काल-विभाजन का रूप स्पष्ट करते हुए हम हिन्दी-साहित्य के आदि-काल के आरम्भ के विषय में विद्वानों के कुछ मत प्रस्तुत करेंगे। काल-विभाजन-सम्बन्धी विद्वानों के मतों का प्रतिपादन साथ-साथ हो जाएगा।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। जिस प्रकार

की प्रवृत्तियाँ समाज में चल रही होती हैं, उन का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है। इन्हीं प्रवृत्तियों का संचित रूप साहित्य कहलाता है। युद्धों और संघर्षों के वीरगाथा काल में हमारी कविता-कामिनी ने रणचण्डी का रूप धारण किया, उदासीनता और निराशा के युग—भक्ति-काल—में वही रणचण्डी भक्ति और उपासना की पवित्र देवी बन कर सामने आई। विलास और ह्रास के युग—रीति अथवा शृंगार-काल—में इस कविता-कामिनी ने साक्षात् रति का चोला पहना, और वही रति, नवचेतना और प्रगति के आधुनिक-युग में नव-निर्माण की अग्रदूतिका के वेश में हमारे सम्मुख आई। अतः हम इन प्रवृत्तियों के आधार पर ही किसी काल-विशेष का नामकरण करते हैं। परन्तु इस से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि किसी काल-विशेष में अन्य प्रकार की रचनाएँ लिखी ही नहीं जातीं। भक्तिकाल और रीति-काल में वीर रस की अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार आधुनिक-युग में भी भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ मिल जाएँगी। जीवन की परिस्थितियों के बदलने से साहित्य भी सहसा बदल नहीं जाता। इस सम्यक् परिवर्तन के लिए उसे यथेष्ट समय लगता है। शुक्ल जी इसी धारणा के पोषक हैं।

कई बार कुछ स्थायी भावों के प्राधान्य के कारण भी हम किसी काल-विशेष का नामकरण कर दिया करते हैं। उदाहरण स्वरूप, रीति काल में प्रेम स्थायी भाव और भक्ति-काल में भक्ति-भावना स्थायी भाव थी।

साहित्य का काल-विभाजन हम केवल साहित्य के अध्ययन की सरलता के लिए करते हैं। हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन अपेक्षित सामग्री के अभाव के कारण एक समस्या बना हुआ है।

हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन करने वाले मुक्त रूप से

तीन साहित्यकार हमारे सामने आते हैं :—

१. श्रीयुत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

२. डा० रामकुमार जी वर्मा ।

३. आचार्य डा० हज़ारी प्रसाद जी द्विवेदी ।

हिन्दी-साहित्य के काल-विभाजन में आचार्य शुक्ल जी ने जिस पद्धति का अनुसरण किया है, उस का उल्लेख वे अपने इतिहास में इन शब्दों में करते हैं :—"जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है, वह एक अलग काल माना गया है और उस का नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को लें, वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी। यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिल कर भी उस के बराबर न होंगी। दूसरी बात है—ग्रंथों को प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं। उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जाएगी, चाहे और दूसरे दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। सारांश यह है कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रख कर काल-विभाग का नामकरण किया है।"

आचार्य शुक्ल जी ने अपनी उपर्युक्त पद्धति के अनुसार हिन्दी-साहित्य के आदि काल को 'वीरगाथा' काल की संज्ञा दी है। उन के अनुसार इस में वीरगाथात्मक काव्यों की प्रचुरता

है। इस लिए इस का यही नाम उपयुक्त है। इसी आधार पर उन्होंने हिन्दी-साहित्य के ९००(नौ सौ) वर्षों के इतिहास को निम्न लिखित चार कालों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं :—

१. आदिकाल (वीरगाथाकाल)—समय=संवत् १०५० से १३७५ तक।
२. पूर्व मध्य काल (भक्ति काल) ,, संवत् १३७५ से १७०० तक।
३. उत्तर मध्य काल (रीति काल) ,, संवत् १७०० से १९०० तक।
४. आधुनिक काल (गद्य काल) ,, संवत् १९०० से १९८८ तक।

आचार्य शुक्ल जी के इस काल विभाजन को लगभग सभी विद्वानों ने थोड़ बहुत हेर-फर के साथ स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों ने आदि-काल के आरम्भ के विषय में मत-भेद प्रकट किया है। आचार्य शुक्ल जी ने (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है)। आदि-काल का आरम्भ संवत् १०५० से माना है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेता डा० काशीप्रसाद जायसवाल संवत् ९०० से आदिकाल का आरम्भ मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा इस का आरम्भ स० ७०० से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अन्यान्य विद्वान् इस सम्बन्ध में अपना मत-भेद प्रकट करते हुए अनेक प्रमाण एवं तर्क उपस्थित करते हैं। डा० वर्मा ने आदि-काल के दो भाग—सन्धि-काल और चारण-काल किए हैं। सन्धि-काल का समय उन्होंने सं० ७५० से संवत् १००० तक और चारण-काल का समय सवत् १००० से संवत् १५३५ तक माना है। अब क्योंकि आदि काल का नाम उन्होंने चारण काल माना है और चारण-काल का समय (जसे ऊपर लिख आए हैं) संवत् १००० से सवत् १३७५ तक

स्वीकार किया है। अतः डा० वर्मा एक प्रकार से शुक्ल जी के काल-विभाजन का ही अनुसरण कर रहे हैं। और अन्य कालों का समय तो उन्हों ने शुक्ल जी की भाँति माना ही है। हिन्दी भाषा के साहित्य का आरम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने एक सिद्धान्त की उद्भावना की है। वह है भाषा के "साहित्यिक-मरण" का सिद्धान्त। एक विद्वान् के अनुसार जब कोई बोलचाल की भाषा, व्याकरण के नियमों द्वारा परिनिष्ठित हो कर साहित्यिक भाषा का पद ग्रहण करती है, उस समय, उस से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा बोल-चाल की भाषा का स्थान प्राप्त कर लेती है। धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा रूढ़िग्रस्त हो कर नई साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में पूर्ण योग देने में असमर्थ हो जाती है। उस समय उस से आगे बढ़ी हुई बोल-चाल की भाषा का संस्कार एवं परिष्कार होता है और वह इस योग्य होती है कि साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक हो सकती है। हिन्दी के प्राचीन रूप से पूर्व, परिनिष्ठित अपभ्रंश साहित्यिक भाषा थी, और उस से कुछ आगे बढ़ी हुई बोल-चाल की भाषा "देश-भाषा' प्रचलित थी। धीरे-धीरे परिनिष्ठित अपभ्रंश का "साहित्यिक-मरण" हुआ और उससे आगे बढ़ी हुई देश-भाषा या लोक-भाषा ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।" यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अपभ्रंश कब से रूढ़िग्रस्त हुई और देश-भाषा ने कब उसका स्थान ग्रहण किया? अब तक उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था और पुरानी हिन्दी में बहुत अधिक एकरूपता है। उन में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि दोनों के बीच में समय-भेद या देश भेद की स्पष्ट रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिन्हें अपभ्रंश के भी कहा जा सकता है और पुरानी

हिन्दी के भी और फिर अपभ्रंश के उत्तर काल में देश की जैसी स्थिति थी, वैसी ही स्थिति पुरानी हिन्दी के आदि-काल में भी थी" उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि देश-भाषा और अपभ्रंश के बीच कालक्रमानुसार एक निश्चित रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक अपभ्रंश-भाषा के साहित्य को ही हिन्दी-साहित्य का पूर्व-रूप मानते हैं। मिश्र-बन्धु अपने इतिहास में आदि-काल के विवेचन में बहुत सी अपभ्रंश रचनाओं को स्थान देते हैं। गुलेरी परिनिष्ठित अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना समीचीन समझते हैं। आचार्य शुक्ल जी भी अपने साहित्य के इतिहास में आदि काल की सामग्री का विवेचन करते हुए चार अपभ्रंश-ग्रंथों और आठ देश-भाषा-ग्रंथों को स्थान देते हैं। राहुल जी ने भी अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी कहा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश और देश-भाषा का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"हेमचन्द्राचार्य जी ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। एक तो वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वयं लिखा है और जो अपभ्रंश के अधिकांश जैन-कवियों और आचार्यों की रचनाओं में व्यवहृत हुई है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने "ग्राम्य" कहा है। इस में 'रासक' 'डोम्बिका' आदि की श्रेणी के लोक-प्रचलित गेय और अभिनेय-काव्य लिखे जाते थे। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई "एडवाँस्ड" बताई जाती है। इसी में बौद्धों के पद और दोहे, प्राकृत पैंगल के अधिकांश पद्य, संदेश-रासक आदि रचनाएँ लिखी गई हैं। यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी-भाषाओं के रूप में विकसित हुई है। इस की भाषा-शैली, काव्यगत अधिकार, स्थापना पद्धति, छन्द आदि

ज्यों के त्यों परवर्ती हिन्दी-साहित्य में आ गए हैं।"

दसवीं शताब्दी से ही हमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप देखने को मिलता है, जिस की मुख्य विशेषता है गद्य में तत्सम शब्दों का बाहुल्य और पद्य में तद्भव शब्दों का एकच्छत्र राज्य। अतः दसवीं शताब्दी से जिस साहित्य की रचना हुई, वह परिनिष्ठत अपभ्रंश भाषा से कुछ भिन्न भाषा का साहित्य है और इसी में हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का उद्भव निहित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दसवीं शताब्दी के आस-पास कवियों का झुकाव लोक-भाषा की ओर हो रहा था। इसी तथ्य के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विद्वान् इतिहास-लेखक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने आदि कालीन सामग्री का गम्भीर मथन एवं विवेचन कर के यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी-साहित्य के आदि-काल का आरम्भ सं० ७०० अथवा ९०० से मानने वाले भ्रम में हैं। इस गहन चिन्तन के उपरान्त उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि दसवीं शताब्दी से पूर्व का जो लोक-भाषा-साहित्य मिलता है, वह भी परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही साहित्य है। उसमें हिन्दी भाषा का रूप स्पष्ट नहीं हुआ है। दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य अपभ्रंश भाषा से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का साहित्य है। अतः दसवीं शताब्दी से ही आदि-काल का आरम्भ मानना उचित जान पड़ता है। आचार्य द्विवेदी ने उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य का गहन अध्ययन एवं मनन कर के तथा आदिकाल की सामग्री का सुन्दर मन्थन कर के साहित्य के आदिकाल को एक नवीन ज्योति प्रदान की है। उन के इस भागरीथ प्रयास से आदिकाल पहले जितना संदिग्ध नहीं रहा है।

जहाँ तक चारों कालों के नामकरण का सम्बन्ध है, डा० रामकुमार वर्मा आदिकाल को "चारण काल" का नाम देते हैं और शेष कालों को शुक्ल जी के अनुसार स्वीकार करते हैं। इन्होंने आदि-काल के दो भाग कर दिये हैं "सन्धिकाल" और "चारण काल।" आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी के "वीरगाथा काल" को "आदिकाल" के नाम से ही स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि "इस काल में वीर-रस को सचमुच ही बहुत स्थान प्राप्त है, परन्तु इस काल में सिद्ध-साहित्य और जैन साहित्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है, इसलिए इसे केवल 'वीरगाथा' काल नहीं माना जा सकता।" राहुल जी इस काल को "सिद्ध-सामंत-युग "मानते हैं। उन का कहना है कि आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाए जाते हैं "सिद्धों की वाणी और सामंतों की स्तुति।" यदि इस तरह भाव ढूंढने लगें तो फिर इस काल के न जाने कितने नाम रखने पड़ें, परन्तु इस काल का नाम सभी दृष्टियों से "आदिकाल" ही उपयुक्त लगता है। इस काल में साहित्यिक पुस्तकें चार और देश-भाषा काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं साहित्यिक पुस्तकों में "विजय पाल रासो", "हम्मीर रासो", 'कीर्तिलता' और "कीर्तिपताका" और देश-भाषा-काव्य की "खुमान रासो", "वीसलदेव रासो", "पृथ्वीराज रासो", "जयचन्द्र प्रकाश", "जयमयंकजस चन्द्रिका", "परमालरासो", "खुसरो की पहेलियाँ" और विद्यापति की "पदावली" ये आठ पुस्तकें हैं। इन में से अन्तिम दो और "वीसलदेव रासो" को छोड़ कर शेष सभी ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं, जिन के आधार पर आचार्य शुक्ल जी ने आदि काल का नाम "वीरगाथा काल" रखा है। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि आदि काल पर अभी हाल ही में जो खोज हुई है

उस के आधार पर प्राय: उन सभी ग्रंथों को अप्रामाणिक घोषित कर दिया गया है जिन के बल पर शुक्ल जी ने आदिकाल को 'वीरगाथा काल' नाम से घोषित किया है।

द्विवेदी जी का कथन है कि "इस काल में जैन-साहित्य और सिद्ध-साहित्य इतना अधिक प्राप्त है कि उस काल में केवल वीर-रस की प्रधानता नहीं मानी जा सकती। इसी लिए किसी एक ही प्रकार की रचनाओं का अभाव होने के कारण इसे 'आदि काल' मानना ही ठीक होगा।"

इस के अतिरिक्त, शुक्ल जी ने जैन और सिद्ध-साहित्य को, साहित्य-कोटि से, यह कह कर बाहर निकाल दिया है कि उन में धर्म का निरूपण है। इस पर आचार्य द्विवेदी का कथन ठीक जान पड़ता है कि "जैन-धर्म-भावना से प्रेरित कई रचनाएँ इतनी सरस हैं कि वे "हम्मीररासो" और "विजयपालरासो" के समान इतिहास के लिए स्वीकार की जा सकती हैं। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश, यदि उन में सरसता है, तो उन्हें काव्य मानने से नटना नहीं चाहिए। इस लिए स्वयंभ, चतुर्मुख, पुष्पदन्त, और धनपाल जैसे जैन-कवियों की कृतियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यदि धार्मिक दृष्टिकोण को हम काव्य के लिए बाधक समझ लें तो हमें अपने भक्ति-साहित्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।" इस के अतिरिक्त रचना-काल के आधार पर विद्यापति (संवत् १४६०) आदि कुछ कवियों को "वीरगाथा काल" के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। यदि 'वीरगाथा काल' की अपेक्षा "आदिकाल" नाम रख लिया जाए तो ऐसी कोई कठिनाई सामने नहीं आती। इस प्रकार 'आदिकाल' नाम ही उपयुक्त जान पड़ता है। वैसे ध्यान से देखें तो आचार्य शुक्ल जी ने भी अपनी इतिहास की पुस्तक में इस का नाम "आदिकाल"

ही लिखा है, वीरगाथाकाल उन्हों ने कोष्ठकों में ही रखा है। लगता है, उन्हें "आदिकाल" नाम में भी कोई आपत्ति नहीं थी।

भक्ति की प्रधानता होने के कारण "पूर्वमध्य काल" को "भक्तिकाल" कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। इस काल में सगुण और निर्गुण भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई देती है। इस काल को विद्वान् आलोचकों ने "स्वर्ण-युग" का नाम दिया है। इस काल के कवियों में अनेक प्रकार के मत-भेद रहते हुए भी उन में भक्ति-भाव की समानता पाई जाती है। अतः इस काल को विद्वानों ने एकमत हो कर "भक्ति काल" की संज्ञा दी है।

रीतिकाल में शृंगार रस की प्रधानता है। इसी आधार पर कतिपय विद्वानों ने इस काल को 'शृंगार काल' की संज्ञा दे दी है। परन्तु, हमारे विचार में इस का "रीतिकाल" नाम ही उपयुक्त जान पड़ता है। कारण, कि इस काल में रीति-ग्रंथ अधिक रचे गए। कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार अथवा रस का लक्षण देना, फिर उन के उदाहरण के रूप में कवित्त अथवा सवैये की रचना करना। इस बात का ज्वलंत उदाहरण, वीररस की रचना करने वाला कवि, भूषण है। वीर रस की रचना करने वाला यह कवि भी रीति-ग्रंथों की रचना करने का मोह नहीं त्याग पाया है। रीति-ग्रंथों के इस प्राधान्य के कारण इस काल को 'रीति-काल' कहा गया है।

आधुनिक काल में गद्य के विकास एवं प्राधान्य के कारण इस का नाम गद्य-काल ही उचित जान पड़ता है। आचार्य द्विवेदी जी ने भी एक प्रकार से इसे गद्य-काल ही स्वीकार किया है। गद्य का विकास आधुनिक-युग की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है।

इस काल में कविता की अपेक्षा गद्य के विभिन्न अंगों का विकास अधिक हुआ है। अतः इसका 'गद्य-काल' नामकरण ही उपयुक्त है। आचार्य शुक्ल जी ने आधुनिक-युग के गद्य-खंड और पद्यखंड दो भाग किए हैं। इस के उपरान्त, उन्हों ने गद्य-खंड को प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान के रूप दिए हैं। इसी काल को अनेक विद्वानों ने भारतेन्दु, द्विवेदी तथा प्रसाद-युग के नाम दिए हैं। किन्तु आधुनिक युग का पूर्ण विभाजन किसी प्रकार सम्भव नहीं है। हम जिस काल में रह रहे हैं, उस के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि कौन सी प्रवृत्ति किस ओर मुड़ जाएगी। इस युग के आधुनिकतम भाग की पूर्ण आलोचना तो उसी समय सम्भव होगी, जब यह भाग अतीत में चला जाएगा।

अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार अनेक वाद-विवादों के पश्चात् विद्वानों ने यही मत निर्धारित किया है कि शुक्ल जी के 'वीरगाथा काल' को 'आदिकाल'' का नाम दे दें और शेष कालों के नाम उसी प्रकार भक्तिकाल, रीति काल, आधुनिक अथवा गद्य-काल ही रहने दें। विद्वानों, आलोचकों का यही निर्णय हमें मान्य होना चाहिए। वैसे तो (जैसा पहले कह आए हैं) शुक्ल जी ने भी 'वीरगाथा' शब्द को कोष्ठकों में ही रखा है और इस काल को आदि काल ही कहा है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जिस सिद्ध और जैन-साहित्य को आचार्य शुक्ल जी ने अपने इतिहास के प्रकरण १-२ में रखा है, उस का अध्ययन किस शीर्षक के अन्तर्गत किया जाए ? आचार्य द्विवेदी ने उसे अपने इतिहास की प्रस्तावना में लिया है और डा० रामकुमार वर्मा ने उसे संधि-काल के अन्तर्गत ले लिया है। किन्तु अंग्रेजी में जिसे ट्रांजिट-पीरियड (Transit Period) कहते हैं, उस के लिए हिन्दी की शुद्ध पारिभाषिक संज्ञा "संक्रमण

काल" है। संक्रमग-काल में लोक-व्यवहार-क्षेत्र से एक भाषा (प्राकृत अथवा अपभ्रंश) विदा हो रही थी और दूसरी भाषा (देश-भाषा) उस का स्थान ले रही थी। अतः उक्त काल को यदि कहना ही था तो 'सक्रमण-काल' कहना चाहिए था। परन्तु एक बात तो निश्चित रूप से कही जा सकती है किसी भी इतिहास-लेखक ने इस साहित्य को आदिकाल के अन्तर्गत नहीं रखा है। अतः हम इस का अध्ययन आदि-काल से भिन्न किसी भी अन्य शीर्षक के अन्तर्गत कर सकते हैं।

किसी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में विचार करते समय साहित्य के काल-विभाजन, कालों के नामकरण, विषय सामग्री के वितरण आदि की ही मूल समस्याएँ सामने आया करती हैं जो आलोचकों के वाद-विवाद का विषय बन कर साहित्य-जगत् में एक ववंडर खड़ा कर देती हैं, विशेषकर समस्याओं की यह जटिलता उस समय और भी गम्भीर हो जाती है, जब साहित्य की अपेक्षित प्रामाणिक सामग्री का अभाव होता है। शुक्ल जी के इतिहास के सम्बन्ध में इन्हीं समस्याओं पर विचार करते हुए, विभिन्न आलोचकों की धारणाओं को इस विस्तृत विवेचन द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहाँ शुक्ल जी के इतिहास की संक्षिप्त रूप-रेखा स्पष्ट हो गई है। साहित्य की अस्तव्यस्त साम:ो और इतिहास-सम्बन्धी उपर्युक्त मूल समस्याओं के रहते हुए भी, इतिहास-लेखन की एक सुव्यवस्थित परम्परा का शुक्ल जी द्वारा किया गया श्री गणेश हिन्दी-साहित्य में अविस्मरणीय रहेगा। इस के पश्चात् हम हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल जी के इस इतिहास-ग्रंथ का महत्त्व जानने का प्रयास करेंगे।

आचार्य शुक्ल जी का "हिन्दी-साहित्य का इतिहास"

हिन्दी-साहित्य-जगत् में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस का प्रमाण विभिन्न आलोचकों की वे धारणाएँ है जो उन्हों ने समय-समय पर शुक्ल जी के इस इतिहास-ग्रंथ की प्रशंसा करते हुए अभिव्यक्त की हैं। यहाँ तक देखने में आता है कि शुक्ल जी के विरोधी भी शुक्ल जी के इतिहास की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सके हैं। शुक्ल जी का यह इतिहास-ग्रंथ आरम्भ से आज तक आदर पाता रहा है। बात यह है कि इस में आप ने साहित्य के अध्ययन की एक ऐसी सुव्यवस्थित पद्धति की स्थापना की है जो इन के पहले नहीं मिलती, और बाद के इतिहास-लेखकों ने तो उस पद्धति का अनुसरण ही किया है, इस में जो ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि का अपूर्व मिश्रण दिखाई देता है, अन्यत्र दुर्लभ है। इस कारण भी इस का विशेष स्थान है। शुक्ल जी के इतिहास के सम्बन्ध में, डा० राम कुमार वर्मा अपनी पुस्तक "हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" में लिखते हैं:—"नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संपादित "शब्द सागर" की आठवीं जिल्द में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की रूप-रेखा यथेष्ट परिष्कृत हुई। इस के लेखक थे पं० रामचन्द्र शुक्ल। उसी सामग्री को विस्तार-पूर्वक लिख कर शुक्ल जी ने संवत् १९८६ में एक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इस में कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के महत्त्व पर अधिक ध्यान दिया गया है। अभी तक के लिखे हुए इतिहासों में इस इतिहास को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिए। इस में हमें इतिहास के साथ समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों का निरूपण मिलता है। काव्य-धाराओं का विवेचन जैसा इस इतिहास में है, वैसा अन्यत्र नहीं।" वर्मा जी के इन शब्दों में आचार्य

शुक्ल जी के इतिहास के सम्बन्ध में जो प्रशंसा उमड़ी पड़ रही है, उस से इस इतिहास का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। वहाँ डा० वर्मा इस इतिहास को "अभी तक के लिखे इतिहासों" में सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हैं, किन्तु इस का महत्त्व डा० वर्मा तक के लिखे इतिहास-ग्रंथों तक ही नहीं समाप्त हो जाता। उन के बाद के इतिहास-लेखकों के लिए भी शुक्ल जी का यह इतिहास विशेष महत्त्व रखता है। परवर्ती इतिहास-लेखकों ने इसे मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। श्रीयुत रामबहोरी शुक्ल जी और डा० भगीरथ मिश्र अपनी पुस्तक, "हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास" के "आमुख" में लिखते हैं—"अतएव साहित्य का विकास विविध प्रेरणाओं और परिस्थितियों के द्वारा होता है। साहित्य के इतिहास में इन्हीं सब का क्रम-बद्ध और पूर्वा-पर-सम्बन्ध वर्णन तथा विवेचन होता है। प्रस्तुत ग्रंथ में भी यही किया गया है। पूर्ववर्ती साहित्य के इतिहास के रचयिताओं में रामचन्द्र जी शुक्ल के दिखलाए पथ पर चलते हुए भी हम ने उन की वे सभी बातें नही लीं जिन से उन के बाद के आलोचक सहमत नहीं थे। अब तक हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों के विषय में जो नयी शोध हुई है, उस का भी हम ने पूर्णतया उपयोग किया है।" इन दोनों विद्वान् आलोचकों के शब्द इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डाल देते है कि साहित्य के इतिहास का जो भवन उन्हों ने खड़ा करना आरम्भ किया था, उस में निर्देश आचार्य शुक्ल के थे, किन्तु भवन का डिजाइन इस लिए थोड़ा बदल दिया गया है कि वह बाद के आलोचकों को जरा पुराना दिखाई दिया। अतः आचार्य शुक्ल जी का इतिहास किस प्रकार इतिहास-लेखकों का निर्देशन करता आया है, यह ऊपर के

वक्तव्य वे स्पष्ट है।

शुक्ल जी के साहित्य के इतिहास का महत्त्व इस बात में भी है, कि शुक्ल जी से पहले किसी को एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रंथ लिखने का साहस नहीं हो रहा था, एक वह समय था। और आज वह समय आ गया है कि शुक्ल जी के इस क्षेत्र में पदार्पण करते ही छोटे-छोटे सरल इतिहासों की भरमार होने लगी है। छोटे छोटे ही नहीं, बड़े इतिहास-ग्रंथ भी देखने में आ रहे हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि शुक्ल जी की विरासत के बिना इन का काम ही नहीं चल सकता था। डा० राम विलास शर्मा अपनी पुस्तक "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना" में इन इतिहासों के सम्बन्ध में लिखते हुए शुक्ल जी की विरासत को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "इन में से ज्यादातर चोरी का माल है। शुक्ल जी की निधि से माल ले कर टके सीधे करने का व्यापार है। बहुत कम लोगों ने नये सिरे से अध्ययन कर के हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कुछ नया जोड़ने की कोशिश की है। विद्यार्थियों के लिए लिखना बुरा नही है, लेकिन जहाँ इस लिखने का उद्देश्य ज्ञान-वृद्धि न हो कर, परीक्षा पास कराना भर होता है, वहाँ इतिहास-लेखन पेसा-कमाऊ-व्यापार मात्र हो जाता है।' इस प्रकार इन संक्षिप्त एवं सरल इतिहासों में तो केवल शुक्ल जी की नकल मात्र कर के ग्रंथ छपवा दिये जाते हैं। मौलिकता तो वृहत् इतिहास ग्रंथों में बहुत कम मिलती है, इन छोटे सरल इतिहासों में क्या होगी ?

अपने समय में तो आचार्य शुक्ल जी का इतिहास सभी इतिहास-ग्रंथों का अग्रणी था ही, बाद के इतिहास-ग्रंथों में भी, इतिहासकार शुक्ल जी द्वारा किया गया साहित्य का काल-विभाजन लगभग उसी रूप में मिलता है। बहुत-कुछ तर्क-वितर्क

के पश्चात् भी आलोचक लोग फिर वहीं आ कर खड़े हो गए हैं जहां शुक्ल जी उन्हें खड़ा कर गए थे। कोई भी इतिहास-लेखक पूर्ववर्ती और अपने समय की खोज के आधार पर ही अपनी धारणाएँ व्यक्त करता है। अपने बाद की खोज का अनुमान उसे नहीं हो सकता। इस लिए आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में जो अन्वेषण तथा अनुसन्धान हुए हैं, उन्हें हम मौलिक प्रयास समझ सकते हैं। किन्तु यह भी क्या कहा जा सकता है कि आज का अनुसन्धान ही अन्तिम अनुसन्धान है। हो सकता है कल कोई अन्य विद्वान् अपनी नई खोज की प्रामाणिकता सिद्ध कर के आज के अनुसन्धान की जड़ काट दे। खोज में हेर-फेर संभव है, परन्तु आचार्य शुक्ल जी ने युगों की साहित्य-सामग्री को जिस व्यवस्थित और सुगठित साँचे में फिट कर दिया है, उस में अभी तक तो कोई विशेष हेर-फेर हुआ प्रतीत नहीं होता। प्राय: आधुनिक इतिहास-ग्रंथ इस के प्रमाण हैं। शुक्ल जी का काल-विभाजन आज भी लगभग वैसे ही स्थित है। बहुत प्रयास करने पर भी वह अपने स्थान से हिला नहीं है। वही वीरगाथा, निर्गुण-सगुण भक्ति, प्रेमाख्यान, रीतिकाव्यधारा, भारतेन्दु और छायावाद का क्रम आरम्भ से आज तक उसी रूप में चला आ रहा है, कोई उसे भंग नहीं कर सका। "रीति-काव्य की भूमिका" में डाक्टर नगेन्द्र इस ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, "आज प० रामचन्द्र जी शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्राय: सर्वमान्य सा ही हो गया है।" और यह डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "शुक्ल जी की दिग्विजय का यह प्रमाण है।" डा० नगेन्द्र आगे लिखते हैं कि शुक्ल जी का यह काल-विभाजन "वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी

वह बहुत कुछ संगत तथा विवेकपूर्ण है।" आचार्य शुक्ल जी की इसी विवेकपूर्णता के आगे तो शुक्ल-विरोधी कतिपय आलोचकों का कुछ वश नहीं चल रहा है। शुक्ल जी की अप्रतिम प्रतिभा और भागीरथ परिश्रम उन के तर्क के आगे भारी चट्टान बन कर खड़े हैं जिस से टकरा कर उन के तर्क चूर-चूर हो जाते हैं। डा० रामविलास का कथन ठीक जान पड़ता है जब वे शुक्ल जी के विवेक के सम्बन्ध में लिखते हैं कि शुक्ल जी के "विवेकपूर्ण होने की वजह से नये इतिहास-लेखकों को मौलिकता का दावा करने में काफी कठिनाई होनी है।"

जो लोग आचार्य शुक्ल जी को विवेकपूर्ण मानने से इन्कार करते हैं, डा० रामविलास शर्मा तर्कपूर्ण चुनौती देते हुए उन का ध्यान कुछेक ठोस तथ्यों की ओर आकृष्ट करते हैं। उन्हों ने महान् अनुसन्धानकर्त्ता, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास से कुछ ऐसे उदाहरण खोज निकाले हैं जिन का पूर्ण साम्य उन्हों ने आचार्य शुक्ल जी के इतिहास के कुछ प्रसंगों द्वारा दिखलाया है। उन्हों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् ने भी आचार्य शुक्ल जी के इतिहास का ढांचा और विषय-वस्तु उसी व्यवस्था में स्वीकार किया है। उन का कथन है कि आदि-काल से ले कर छायावाद तक द्विवेदी जी ने उन्हीं धाराओं के हिसाब से इतिहास-रचना की है जिन का विवेचन शुक्ल जी ने किया था। द्विवेदी जी ने केवल एक अन्तर रख छोड़ा है। उन्हों ने आदिकाल की तरह आधुनिक-काल नाम तो रखा है लेकिन मध्यकाल नाम छोड़ दिया है। आदि है और आधुनिक है तो मध्य को छोड़ने का क्या तुक था, समझ में नहीं आता। इस के अतिरिक्त और युगों में जहाँ द्विवेदी जी ने उन्हीं साहित्यिक धाराओं

और प्रवृत्तियों को मुख्य माना है, जिन्हें शुक्ल जी ने मुख्य माना था, परन्तु आदि-काल की मुख्य धारा को उन्हों ने किसी विशेप शीर्षक के अन्तर्गत स्पंष्ट नहीं किया है। शुक्ल जी ने आदिकाल की मुख्य धारा वीरगाथा काव्य को माना था। यही कारण था कि उन्हों ने उसे वीरगाथाकाल कहा। द्विवेदी जी को शुक्ल जी का नाम नहीं जँचा, इस लिए उन्हों ने काल-क्रमानुसार उसे आदिकाल तो कह दिया, किन्तु किसी साहित्यिक धारा के हिसाव से उस का कोई नाम नहीं रखा। शुक्ल जी तो पहले कह देते हैं कि उन्हों ने अपने इतिहास का काल-विभाजन साहित्यिक-प्रवृत्ति के अनुसार किया है। इस लिए उन्हों ने तो इस का नाम वीरगाथा काल रखना ही था, परन्तु द्विवेदी जी ने इस आधार पर कोई नाम नहीं रखा। आदिकाल की सामग्री के विवेचन में आचार्य शुक्ल जी "वीसलदेवरासो", "पृथ्वीराजरासो" के सम्बन्ध में लिखते हैं कि ये रासो आदि जो काव्य' आजकल मिलते हैं, वे संदिग्ध हैं।" डा॰ द्विवेदी ने भी इन्हें संदिग्ध ही ठहराया है। इस प्रकार इसे आचार्य शुक्ल जी का ही अनुसरण मानना चाहिए।

"वीसलदेवरासो" के सम्वन्ध में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं, "दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है, पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, वीसलदेव के वहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं, जव कि उन के सम्वन्ध में कल्पना की गुँजाइश हुई होगी।" शुक्ल जी के मतानुसार भोज की लड़की से वीसलदेव के व्याह की वात कल्पित है क्योंकि-भोज का देहान्त वीसलदेव से सौ वरस पहले हो चुका था। भोज के अतिरिक्त माघ और कालिदास के नाम जोड़ने का भी शुक्ल जी ने उल्लेख किया है। वीसलदेव रासो

की भाषा की जाँच करने के पश्चात् शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि, "यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। आचार्य द्विवेदी जी इस ग्रंथ को शुक्ल जी की भाँति संदिग्ध तो मानते हैं, किन्तु शुक्ल जी की भाँति यह नहीं कहते कि, "यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है।

"पृथ्वीराजरासो" की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं कि, "यह हो सकता है कि इस में इधर-उधर कुछ पद्य चन्द के भी बिखरे हों, पर उन का पता लगाना असम्भव है।" द्विवेदी जी इस रासो की अप्रामाणिकता इन शब्दों में स्वीकार करते हैं कि, "यद्यपि रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं, तथापि इस में चन्द के कुछ-न-कुछ वचन अवश्य हैं जो काफ़ी पुराने हैं।" द्विवेदी जी ने मुनि जिन विजय द्वारा प्रकाशित 'जयचन्द प्रबन्ध' का उल्लेख करते हुए अपने कथन का समर्थन किया है, उस से शुक्ल जी के अनुमान को और पुष्टि प्राप्ति हो गई है। अतः द्विवेदी जी ने न केवल शुक्ल जी की बातों को दोहराया है, प्रत्युत आचार्य शुक्ल जी के कथन को स्थान-स्थान पर पुष्ट कर के उसे और अधिक संगति प्रदान कर दी है।

और आगे चलिए। "खुमानरासो" के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं, "इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उस में महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है।" आचार्य द्विवेदी जी इसी रासो के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं, "आजकल खुमानरासो की जो प्रति मिलती है, वह अपूर्ण है।" यहाँ द्विवेदी जी ने केवल शुक्ल जी के वाक्य का सरलीकरण कर दिया है। एक उदाहरण और देखिए। आचार्य शुक्ल जी ने 'शिवसिंह सरोज' का हवाला देते हुए 'खुमानरासो' के

सम्बन्ध में लिखा था, "शिवसिंह सरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिस में श्री रामचन्द्र से ले कर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था।" इसी सम्बन्ध में डा० द्विवेदी इस प्रकार लिखते हैं, "खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में शिवसिंह सरोज में बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नाम का काव्य लिखा था, जिसमें श्रीरामचन्द्र से ले कर खुमान तक के नरपतियों का वर्णन है।" इस प्रकार द्विवेदी जी ने शुक्ल जी के वाक्यों के कई पूरे के पूरे टुकड़े ही उठा कर अपने वाक्यों में रख लिए हैं। आदिकाल में भट्टकेदार और मधुकर के दो ग्रथों के विषय में शुक्ल जी लिखते हैं, "ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है।" और द्विवेदी जी भी इन्हीं ग्रथों के विषय में कहते हैं, "ये पुस्तकें मिलती नहीं।" शुक्ल जी के वाक्यों के सरलीकरण के ये उदाहरण द्विवेदी जी के इतिहास में भरे पड़े हैं। वीरगाथा-काव्य हिन्दी की एक साहित्यिक धारा है। आचार्य शुक्ल जी ने इस धारा के प्रतिनिधि ग्रंथों के आधार पर अपने साहित्य के आदि-काल का नाम वीरगाथा काल रखा, चाहे इस धारा के अधिकांश ग्रंथ अप्रामाणिक ही थे। किन्तु इससे वीरकाव्य-परम्परा का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। डाक्टर द्विवेदी ने इन्हीं ग्रंथों की चर्चा अपने इतिहास के आदिकाल में की है। अतः डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में, "द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की स्थापनाओं को ही नहीं दोहराया, कभी-कभी उन के वाक्यों को भी दोहराया है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के महान् इतिहास-लेखकों को भी शुक्ल जी के इतिहास की पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। केवल आचार्य द्विवेदी ने ही नहीं, हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने शुक्ल जी के इतिहास से

सामग्री ली है।

शुक्ल जी अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के रूप में जो विरासत छोड़ गए हैं, शुक्ल जी के परवर्ती इतिहास-लेखकों ने उत्तराधिकारी बन कर उस का उपभोग किया है और कर रहे हैं। उत्तराधिकारियों में कुछ ऐसे भी होते हैं जो विरसे का पूरा उपभोग तो करते हैं, किन्तु विरसा छोड़ कर जाने वाले के प्रति उस का ऋण स्वीकार नहीं करते। ऐसे उत्तराधिकारियों की लोग भर्त्सना किया करते हैं। ऐसे लोग ऋण स्वीकार करें न करें, उन की रचनाएँ इस का प्रमाण दे देती हैं कि उन का मूल-प्रेरणा-स्रोत कौन है। जिन्हों ने आचार्य शुक्ल जी का इतिहास पढ़ा है, वे किसी अन्य इतिहास को पढ़ते समय झट जान जाएँगे कि अमुक भाव अथवा अमुक काल या घटना-क्रम आचार्य शुक्ल जी की देन है। आचार्य शुक्ल जी के वाक्यों को तो देख कर ही पता चल जाता है कि ये तो शुक्ल जी बोल रहे हैं। उन की अपनी एक विशिष्ट शैली है जो पाठकों के मस्तिष्क में इस प्रकार जम कर बैठ जाती है कि उन का कोई वाक्य सामने आया नहीं कि शुक्ल जी का ध्यान हो आता है। उन के वाक्यों को ले कर कोई यह दावा करे कि ये उस के अपने हैं, इस पर शुक्ल जी का पाठक कभी विश्वास नहीं करेगा।

अतः हिन्दी-साहित्य को आचार्य शुक्ल जी की देन अमर है। जब तक हिन्दी-साहित्य और उस का इतिहास रहेगा, शुक्ल जी को हम अपने बीच ही खड़ा पाएँगे।

# काव्य-सम्बन्धी विचार

आचार्य शुक्लजी के मतानुसार, "मनुष्य लोकवद्ध प्राणी है। उस की अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकवद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या, (प्रत्येक वस्तु का) किसी का प्रयोजन और विकास होता है।" और शुकल जी के मतानुसार 'सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेपताओं और विचित्र-ताओं के वीच मनुष्य-जाति के सामान्य-हृदय को देख सके।" लोक-हृदय की पहचान कव हो सकती है? इस के लिए आचार्य शुक्ल जी कविता की परिभापा देते हुए लिखते हैं कि 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है। उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शव्द-विधान करती है, उसे कविता कहते हैं।" अर्थात् जव तक मनुष्य इस नानारूपात्मक जगत् के रूपों एवं व्यापारों से अपने हानि-लाभ, जीवन-मरण, और दुःख-सुख का सम्बन्ध जोड़ता रहता है, तव तक उस का हृदय इस जगत् से वद्ध रहता है, वह आसक्त रहता है। उस समय तक वह अपनी पृथक् सत्ता लिए घूमता रहता है। किन्तु जव प्राणी अपनी पृथक् सत्ता से ऊपर उठ कर अपने को विल्कुल भूल जाता है—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है—तव वह मुक्त-हृदय हो जाता है। हृदय की यही मुक्तावस्था (आत्म-विभोरा-वस्था) रसदशा कहलाती है। यहाँ कवि का हृदय, लोक-हृदय में लीन हो जाता है। हृदय की इसी मुक्तावस्था की साधना के लिए मनुष्य की वाणी ने जो शव्द-विधान किया है, वही शव्द-

विधान कविता कहलाता है। शुक्ल जी कर्मयोग और ज्ञानयोग के समान हृदय की मुक्ति-प्राप्ति की इस साधना को भाव-योग की संज्ञा देते हैं।

कविता का उद्देश्य बताते हुए शुक्ल जी इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि कवि का हृदय, मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय की पहचान किस प्रकार करता है। शुक्ल जी की धारणा है कि कविता ही मनुष्य के हृदय को जगत् के स्वार्थ-सम्बन्धों की संकुचित भूमि से ऊपर उठा कर एक लोक-सामान्यभाव-भूमि पर ला खड़ा करती है। जिस सामान्य भाव-भूमि पर आकर मनुष्य जगत् के अनेक मार्मिक स्वरूपों को देखता है, और उस के हृदय में शुद्ध अनुभूतियाँ जन्म लेती हैं। इस भाव-भूमि पर आ कर मनुष्य कुछ समय के लिए अपने को भूल जाता है। उस की अपनी सत्ता लोक-सत्ता में लीन हो जाती है। इस अवस्था में उस की अपनी अनुभूति सब की अनुभूति होती है, अथवा हो सकती है। यहाँ व्यक्ति की अनुभूति और लोक-सत्ता की अनुभूति का एक योग अथवा मिश्रण या मेल उत्पन्न होता है। अनुभूतियों का यही मिलाप हमारे भावों अथवा मनोविकारों का परिष्कार करता है और शेष सृष्टि के साथ हमारे रचनात्मक सम्बन्ध की रक्षा होती है। जिस प्रकार जगत् में अनेक रूप देखने को मिलते हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय में अनेक भाव रहते हैं। अतः जगत् अनेकरूपात्मक है तो हमारा हृदय अनेक-भावात्मक। हमारे हृदय के इन अनेक भावों का परिष्कार एवं संस्कार तभी सम्भव होता है जब इन सब का स्वाभाविक सामंजस्य जगत् के विभिन्न रूपों एवं व्यापारों के साथ हो जाए। मानव चिरकाल से इन भावों का सम्बन्ध जगत् के रूपों और व्यापारों से जोड़ता आया है। शुक्ल जी के मतानुसार जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य

आदिम युगों से ही परिचित है, जिन्हें देख कर वह चिरकाल से सुखी और दुःखी होता आया है, उन रूपों, व्यापारों तथा तथ्यों का हमारे भावों के साथ मूल अथवा सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए वे उन्हें मूल रूपों और मूल व्यापारों की संज्ञा देते हैं। उन की धारणा है कि इस विस्तृत जगत् के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को, भावों के विषय अथवा आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं उपर्युक्त मूलरूपों या मूल व्यापारों में बदलना पड़ता है। जब तक इन्हें मूल मार्मिक व्यापारों में परिणत नहीं किया जाता, तब तक उन पर काव्य-दृष्टि नहीं पड़ सकती। वन, पर्वत, वृक्ष, लता, पशु पक्षी आदि विभिन्न रूपों और पानी का बहना, बिजली का चमकना घटा का घिरना, दलदल में से बाँह पकड़ कर निकालना, गला काटना आदि व्यापारों से मानव चिरकाल से परिचित हैं। इन का मानव के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य है। परस्पर परिचय की इस लम्बी परम्परा के कारण, इन आदिम रूपों एव व्यापारों में भावों को जगाने की अद्‌भुत क्षमता है। आचार्य शुक्ल जी का कथन है कि इन के द्वारा जैसा रस-परिपाक सम्भव है, वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, हवाई जहाज़ आदि रूपों तथा अनाथालयों के चेक काटना, मोटर की चरखी घुमाना, एंजिन में कोयला झोंकना आदि आधुनिक व्यापारों द्वारा नहीं।

आज मनुष्यों के व्यापारों में पर्याप्त जटिलता आ गई है और हमारे मूल-व्यापार बहुत पीछे कर दिए गए हैं। शुक्ल जी इस का कारण सभ्यता की वृद्धि बताते हैं। भावों के सीधे और मूल लक्ष्यों के अतिरिक्त अनेक अन्य लक्ष्यों की स्थापना हो गई है जिन का संचालन और विधान बुद्धि करती है। इस प्रकार मानव बहुत से ऐसे लक्ष्यों से घिर गया है जिन से उन का सीधा-

सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण-स्वरूप पहले भय का लक्ष्य केवल अपनी और अपनी सन्तान की रक्षामात्र था, कालान्तर में गाय-बैल तथा अन्न आदि की रक्षा पर हमारा ध्यान गया और यहाँ तक कि बाद में मानव धन, मान और प्रभुत्व की रक्षा की चिन्ता में लग गया। इसी प्रकार घृणा, क्रोध, लोभ आदि अन्य मनोविकारों के विषय भी अपने मूलरूप से भिन्न रूप धारण करने लगे। यहाँ तक कि हमारे कुछ भावों के विषय अथवा लक्ष्य तो अमूर्त रूप धारण करने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। परन्तु शुक्ल जी का विश्वास है कि हमारे भावों के विषयों और उन से उत्पन्न व्यापारों में चाहे कैसी ही जटिलता क्यों न आ जाए, उन का सम्बन्ध मूल विषयों और व्यापारों से न्यूनाधिक रूप में सदा बना रहेगा। एक उदाहरण से स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि किसी व्यक्ति का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से वंचित करने के लिए किसी वकील से एक कागज लिखवाता है जिसे देख कर उसे बड़ा क्रोध आएगा ? यहाँ व्यावहारिक दृष्टि से तो उस व्यक्ति के क्रोध का विषय वह कागज का टुकड़ा है। परन्तु उस कागज़ के टुकड़े के पीछे एक और ही भाव निहित है कि ऐसा होने से उस के बच्चे भूखे मर जाएँगे। उस के क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज़ का टुकड़ा है और न उस पर लिखे काले अक्षर। ये तो केवल सभ्यता के आवरणमात्र हैं इस लिए शुक्ल जी के मतानुसार कवि को चाहिए कि मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा और मूल सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए सभ्यता के इन आवरणों को हटाए ? प्रकृत रूप और व्यापार (सभ्यता के आवरणों से रहित) हमारे भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। यही हमारे काव्य के अधिक उपयुक्त हैं। अतः जब तक भावों से सीधा और पुराना सम्बन्ध रखने

मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे, तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा ? भावों के अमूर्त विषयों के नीचे भी मूर्त और गोचर रूप निहित होते हैं। जैसे यश की लालसा के नीचे आनन्द-उपभोग और आत्म-प्रशंसा की भावना निहित रहती है।

काव्य के क्षेत्र के सम्बन्ध में शुक्ल जी की धारणा है कि "हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने ला कर, कविता वाह्य-प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती है।" इस प्रकार आचार्य शुक्ल जी का काव्य-सिद्धान्त जीवन और जगत् के आधार पर स्थित है। अतः उन के मत से काव्य का क्षेत्र और विषय भी जगत् और जीवन के समान व्यापक और विस्तृत होना स्वाभाविक है। शुक्ल जी काव्य के इस व्यापक क्षेत्र का विभाजन तीन रूपों में करते हैं। उन का कथन है कि काव्य-दृष्टि कहीं तो (१) नर-क्षेत्र के भीतर रहती है, (२) कहीं मनुष्येतर वाह्य-सृष्टि के भीतर और (३) कहीं समस्त चराचर को घेरे रहती है। इसी विभाजन की दृष्टि से उन्हों ने तीन प्रकार के कवि भी बताए हैं। कुछ कवि नर-प्रकृति के भीतर ही लीन रहते हैं; कुछ की मनोवृत्ति वाह्य-प्रकृति के वर्णन में ही रमती है और तीसरे प्रकार के कवि नर और वाह्य-प्रकृति अर्थात् समस्त चराचर के वर्णन में रस लेते हैं। शुक्ल जी के विचारानुसार संसार की अधिकतर कविता नर-क्षेत्र के भीतर ही रची गई है। नरत्व की वाह्य-प्रकृति और अंतःप्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों की उद्भावना ही प्रवन्ध अथवा मुक्तकों में अधिकतर पाई जाती है। (२) मनुष्येतर वाह्य-प्रकृति को आलम्बन रूप में संस्कृत के प्राचीन प्रवन्ध-काव्यों में ही ग्रहण

किया गया है। यहाँ प्रकृति का ग्रहण आलम्बन रूप में हुआ है। काव्य में वस्तु-व्यापार-वर्णन दो रूपों में पाया जाता है :—एक तो वस्तुओं की गिनती मात्र करा देने के रूप में और दूसरे बिम्ब-ग्रहण कराने के रूप में, अर्थात् हमारे मन में चित्र उपस्थित कराने के रूप में । शुक्ल जी काव्य के वस्तु-व्यापार-वर्णन के लिए बिम्ब-ग्रहण-शैली के हामी हैं । बिम्ब-ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, आकृति तथा उस के आवेष्टन का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है । शुक्ल जी के मतानुसार जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य-प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा सकती है और न रम सकती है। प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण वाल्मीकि के अपने "हेमन्त-वर्णन" में, "कुमार सम्भव" के आरम्भ और "रघुवंश" के बीच-बीच में मिलता है। मनुष्येतर बाह्य-प्रकृति को जो प्राधान्य कालिदास के "मेघदूत" में मिला है, वह संस्कृत के किसी अन्य काव्य में नहीं मिलता । "पूर्व-मेघ" तो आदि से अन्त तक प्रकृति की एक हृदयग्राही झाँकी है। प्रकृति-हमारे सामने अनेक रूपों में आती है—कभी मनोहर, मधुर और सुसज्जित रूप में और कभी अत्यन्त विकराल, भयंकर और कर्कश रूप में। शुक्ल जी के मतानुसार सच्चा कवि वही है जिस का हृदय प्रकृति के इन सभी रूपों में लीन होता है, क्योंकि उस के अनुराग का कारण उस का अपना खास सुख-भोग नहीं, वरन् इन सभी रूपों से उस की चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित भावना है । प्रकृति के साधारण असाधारण सभी रूपों में रमाने वाला वर्णन वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलता है। सारांश

यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सहृदयता की पहचान नहीं।

कभी-कभी काव्य-दृष्टि मनुष्य और मनुष्येतर दोनों क्षेत्रों-अर्थात् समस्तर चराचर पड़ती है। शुक्ल जी के मतानुसार विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता है। अर्थात् दोनों क्षेत्रों पर अलग-अलग रूप से पड़ने की अपेक्षा दोनों क्षेत्रों पर समान रूप से एक साथ काव्य-दृष्टि का पड़ना अधिक श्रेयस्कर है। काव्य-दृष्टि केवल सजीव-सृष्टि तक ही सीमित नहीं रहती, वह प्रकृति के निर्जीव-भाग पर भी जाती है। भूमि, पहाड़, चट्टान, नदी, नाले, मेघ, नक्षत्र भी उस की परिधि में आ जाते हैं। जड़-सृष्टि में पाए जाने वाले रूप, व्यापार अथवा परिस्थितियां भी अनेक मार्मिक तथ्यों का उद्‌घाटन करती हैं। जीवन के अनेक मार्मिक तथ्यों से उन का सुन्दर साम्य स्थापित किया जाता है। ऐसा साम्य हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। मानव-जीवन में ऐसा प्राय: देखा जाता है कि सुख-समृद्धि और सम्पन्नता में पिंड न छोड़ने वाले दुर्दिन पास नहीं फटकते। इसी प्रकार जड़-सृष्टि में भी भरे हुए सरोवर पर नित्य कलरव करने वाले पक्षी, उस के सूखने पर कहीं और वसेरा कहते हैं। किसी अन्योक्तिकार ने कहा भी है :—

"कोलाहल सुनि खगन के, सरवर ! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि ॥"

इसी प्रकार सूक्ष्म और पैनी दृष्टि वाले और गूढ़ व्यंजना भी प्राप्त कर सकते हैं। अत: व्यापक जीवन पर पड़ने वाली काव्य-दृष्टि अधिक गम्भीर मानी जाएगी।

आचार्य शुक्ल जी की धारणा है कि तथ्य चाहे नरक्षेत्र के हों चाहे अधिक व्यापक-क्षेत्र के, उन में से कुछ प्रत्यक्ष होते हैं

और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्यों को पहले हमारी ज्ञानेन्द्रियां उपस्थित करती हैं फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उन की योजना करती है। अतः ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आचार्य शुक्ल जी विकासवाद के सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। उन का मत है कि सभ्यता का जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे मनुष्य की चेतन-(ज्ञान) सत्ता भी बुद्धि के विकास की ओर बढ़ती गई। सभ्यता के इस क्रमिक विकास के साथ मनुष्य भी बुद्धि से काम लेने लगा। शुक्ल जी बुद्धिवादी हैं, परन्तु उन का बुद्धिवाद कोरा नहीं है, उस में हृदय को भी पूरा स्थान है। ज्यों-ज्यों मनुष्य बुद्धि से अधिक काम लेने लगा, हृदय को उस ने इतना अवकाश नहीं दिया। फलस्वरूप मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र व बुद्धि-क्षेत्र विस्तृत हो गया और भाव-क्षेत्र संकुचित और सीमित। अतः ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ ही अब भाव क्षेत्र का विस्तृत होना अपेक्षित है। ज्ञान-विज्ञान आदि के अनुसंधान के कारण अनेक नवीन और जटिल परिस्थितियों की उद्‌भावना हो गई है। आज के कवियों को चाहिए कि वे इन्हें भी अपने काव्य का विषय बनाएँ और इस रूप में प्रस्तुत करें कि ये भी हमारे भावों का आलम्बन बन सकें।

जो लोग काव्य को जीवन-व्यवहार में बाधक मानते हैं, उन के मत का खंडन करते हुए शुक्ल जी का कथन है कि "कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है।" शुक्ल जी के मतानुसार मनुष्य को कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल बुद्धि

अथवा विवेचना के बल से हम कोई काम नहीं करते। जो काम जटिल-बुद्धि-व्यापार के बाद होता देखा जाता है, उस में भी कोई न कोई भाव अवश्य छिपा रहता है। जब हम महान् नीतिज्ञ चाणक्य को किसी निष्ठुर व्यापार में लगा हुआ देखते हैं तो यही जान पड़ता है कि वह अपनी बुद्धि के दाव-पेच से ही उस कार्य को कर रहा है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उस बुद्धि के तर्क-जाल के पीछे भी कोई रागात्मक सम्बन्ध अवश्य मिल जाएगा। उस क्रूर-व्यापार के पीछे उस की प्रतिज्ञा की सफलता का आनन्द और नन्दवंश के प्रति क्रोध या वैर का भाव मिलेगा। हम किसी कार्य को बुद्धि की कसौटी पर अच्छा या बुरा जान कर करने में प्रवृत्त नहीं होते, बल्कि इस लिए होते हैं कि उस की अथवा उस कार्य के परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, घृणा, भय, उत्कंठा आदि का संचार कर के हमें उस काम को करने के लिए प्रेरित करती है। शुद्ध ज्ञान से कर्म की उत्तेजना नहीं मिलती। शुक्ल जी अपने इस कथन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। उन का कहना है कि यदि किसी जन-समुदाय के बीच में कहा जाए कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है उस जनसमुदाय पर कुछ प्रभाव न पड़े। परन्तु यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाए तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे। इस प्रकार पहले ढंग की बात कहना अर्थशास्त्री अथवा राजनीतिज्ञ का काम है और दूसरे प्रकार का दृश्य भावों में ला खड़ा कर देना कवि का काम।

अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार में बाधक है, काव्य के अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, उचित नहीं जान पड़ती।

कविता तो, शुक्ल जी के मतानुसार, भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है। उक्त धारणा का आधार बताते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि "जो भावुक या सहृदय होते हैं, अथवा काव्य के अनुशीलन से जिन के भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उन की वृत्तियां उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। जिन की भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का अनुभव करने में तत्पर रहती है; जिन के भाव चराचर के बीच किसी को भी आलम्बन के उपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उस की ओर दौड़ पड़ते हैं, ऐसे व्यक्ति सदा ही अपनी स्वार्थबुद्धि द्वारा परिचालित नहीं होते। ऐसे व्यक्ति धन कमाने की धुन में लगे लोगों को अच्छे नहीं लगते। शुक्ल जी के मतानुसार, "कवि और भावुक हाथ न हिलाते हों, यह बात नहीं है।" इस प्रकार मनुष्य की चेष्टाओं, उस के कर्म-कलापों से उस के भावों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

कविता मानव के भाव-क्षेत्र को व्यापक और विस्तृत बना कर उसे मनुष्यता की उच्च-भूमि पर ला खड़ा करती है। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में जिस प्रकार ज्ञान-प्रसार की विशेषता है, उसी प्रकार भाव-प्रसार की भी। शुक्ल जी इस बात को इस तरह स्पष्ट करते हैं :—"पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े, बच्चों या खिलाने पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उन का क्रोध भी अपने सताने वालों तक ही जाता है। स्ववर्ग या पशुमात्र को सताने वालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ-साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने सम्बन्धियों, अपने पड़ोसियों, अपने देश-वासियों क्या मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उस के हृदय में बन गई है।" मनुष्य केवल

अपने को सताने वाले पर ही क्रुद्ध नहीं होता, वरन् पशु-पक्षियों तक की वेदना देख कर उस की आँखें सजल हो जाती हैं। बन्दर को शायद अपनी बँदरिया को देख कर ही सौंदर्य का अनुभव होता हो, परन्तु मनुष्य को रेत-पत्थर, फल-फूल सभी में सौंदर्य पा कर आनन्द मिलता है। अतः मनुष्यता को उच्चभूमि पर पहुँचा देने की क्षमता को शुक्ल जी अपने इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—"इस हृदय-प्रसार का स्मारक-स्तम्भ काव्य है जिस की उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देख कर रसमग्न होने लगते हैं। कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुणा बढ़ कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।" काव्य के प्रसाद से मनुष्य संसार के सुख और दुःख का नितान्त स्वार्थमुक्त हो कर अनुभव करता है। इस प्रकार के अनुभव का जब हमें अभ्यास हो जाता है तो हमारे हृदय का बन्धन खुल जाता है और हम मनुष्यता की उच्च भूमि को स्पर्श करने लगते हैं। ऐसे लोग भी देखे जाते हैं जिन्हों ने अपनी स्वार्थ-भावना के कारण क्रोध, दया, श्रद्धा, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा रखा है। अर्थपिशाच कृपण व्यक्ति का हृदय इन सब भावों के प्रति मरा हुआ होता है। पुलिस-कर्मचारियों के हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर होते हैं जिन पर दूसरों के क्लेश और दुःख कोई प्रभाव नहीं डालते। शुक्ल जी ऐसे व्यक्तियों की दवा "कविता" बताते हैं। क्योंकि कविता उन के हृदय का प्रसार करेगी। उन्हें मनुष्यत्व को उच्च भूमि पर ला कर खड़ा कर देगी। भाव-योग की उच्च-सीमा पर पहुँच कर वे जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करेंगे। उन का अपना हृदय विश्व-हृदय बन जाएगा। उन के आँसुओं में विश्व के आँसू और उन के हास

में जगत् का हास झलकता दिखाई देगा।

शुक्ल जी काव्य में भावना या कल्पना की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए भावना या कल्पना का रूप स्पष्ट करते हैं। उन का कथन है कि प्राचीन धार्मिक लोग 'उपासना' का अर्थ "ध्यान" किया करते थे। जो वस्तु हम से अलग है, हमें दूर प्रतीत होती है, उस की मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही 'उपासना' है। जिसे धार्मिक लोग उपासना कहते है, साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आधुनिक लोग उसे ही कल्पना की संज्ञा देते हैं। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार और भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना अथवा कल्पना की आवश्यकता रहती है। शिथिल-कल्पना रखने वाला व्यक्ति, हृदय में मार्मिकता रहते हुए भी, काव्य या किसी सरस उक्ति को पढ़ कर वैसी अनुभूति नहीं प्राप्त कर सकता, जेसी एक सशक्त कल्पना-सम्पन्न व्यक्ति कर सकता है। अशक्त कल्पना वाले व्यक्ति के हृदय में भावों को परिचालित करने वाला स्पष्ट एवं सजीव मूर्ति-विधान जल्दी से नहीं होता। कुछ कवि किसी घटना के मार्मिक अंगों का ब्योरेवार पूर्ण वर्णन करके पाठकों की कल्पना के लिए कुछ नहीं छोड़ते, किन्तु कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो किसी मार्मिक घटना का वर्णन करते हुए कुछ पाठक अथवा श्रोता की कल्पना पर भी छोड़ देते हैं। कल्पना दो प्रकार की होती है--विधायक और ग्राहक, शुक्ल जी के मतानुसार कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित है और श्रोता अथवा पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर से उन का अभि-प्राय है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता, वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। शुक्ल जी कल्पना को काव्य का एक अनिवार्य साधन स्वीकार

करते हैं। परन्तु साधन ही स्वीकार करते हैं, साध्य कदापि नहीं। उन की धारणा है कि विचित्र से विचित्र मूर्ति-विधान भी यदि उस में भाव-संचार की क्षमता नहीं है, तो वह काव्य नहीं माना जाएगा।

कुछ लोग काव्य का उद्देश्य मनोरंजन बताते देखे जाते हैं। शुक्ल जी लोगों की इस धारणा का जोरदार खंडन करते हैं। जैसा कि पहले बता आए हैं कि शुक्ल जी कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण कर के उन के साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन मानते हैं। कविता के इस गम्भीर उद्देश्य के सामने मनोरंजन वाला उद्देश्य कितना हलका प्रतीत होता है। शुक्ल जी के मतानुसार कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, परन्तु उस के पश्चात् भी कुछ होता है और वही सब कुछ है। मनोरंजन मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर रखने वाली एक शक्ति है। और इसके कारण कविता अपना प्रभाव भली प्रकार जमा सकती है। काव्य की इसी रमाने वाली शक्ति—मनोरंजन,—को लक्ष्य कर संस्कृत के आचार्य जगन्नाथ पण्डितराज ने रमणीयता को ही काव्य का साध्य स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार योरोपीय आलोचकों ने "आनन्द" को ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य मान लिया। शुक्ल जी के मतानुसार उन्हों ने मार्ग को ही गंतव्य-स्थान मान लिया और इससे बड़ा गड़बड़-झाला हुआ मनोरंजन तो वैचित्र्यपूर्ण कहानी सुनने में भी होता है, तो क्या कहानी सुनना और कविता सुनना एक ही बात है ? कविता सुनने वाला किसी भाव में लीन हो जाता है और कभी बार-बार एक ही पद्य को सुनने को कहता है, परन्तु कहानी सुनने वाला आगे का वृत्तांत सुनने को आकुल रहता है। वाल्मीकि और तुलसीदास ने केवल निठल्ले और बेकार लोगों के विलास के लिए इतने

महान् काव्यों की रचना कदापि नहीं की थी, काव्य का उद्देश्य मनोरंजन बना कर लोगों के लिए विलास-सामग्री जुटाने के लिए उन्हों ने इतना श्रम नहीं किया था। शुक्ल जी मनोरंजन को काव्य का साध्य बना कर चलने वालों के कट्टर विरोधी थे। यही कारण था कि उन्हों ने हिन्दी में रीति-ग्रंथ का डट कर विरोध किया है। रीतिकालीन राजा-महाराजाओं को काम-वासना को भड़काना और उन के लिए विलास-सामग्री जुटाना ही उस समय के कवियों का ध्येय रह गया था। शुक्ल जी यथार्थ की भूमि पर रीति-ग्रंथों की कृत्रिमता प्रकट करते हैं। शुक्ल जी का आग्रह काव्य को जीवन के निकट लाना है। रोमाण्टिक कवियों की ही भाँति उन्हों ने रीतिकाल के दरबारी साहित्य की जड़ें उखाड़ कर फेंक दी हैं। शुक्ल जी ने यह प्रकट किया है कि रीतिकालीन कवियों ने किस प्रकार नायकों की भाँति नायिकाओं के भी भेद-उपभेद दिखा कर नारी-चरित्र के साथ खिलवाड़ किया है। कविता केवल प्रशंसा और मन बहलाने की वस्तु बन कर रह गई। इसी लिए शुक्ल जी पूर्वी और पश्चिम के कलावादियों के सिद्धान्त, "कला कला के लिए है" नहीं मानते। योरोप में प्रत्यक्ष अनुभूति से काव्य की अनुभूति को भिन्न किया गया है। कल्पना को एक स्वतन्त्र शक्ति माना गया है जो दूसरी सृष्टि का निर्माण करती है। शुक्ल जी इन सिद्धान्तों के विरोधी हैं। उन का कथन है कि "सारे वर्ण और सारी रूप-रेखाएँ जिन से कल्पित-मूर्ति-विधान होता है, बाह्य-जगत् के प्रयत्क्ष बोध से प्राप्त हुई हैं।" इस प्रकार कल्पना मनुष्य के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करती है। वह वास्तविक जीवन से दूर हो कर किसी स्वतन्त्र संसार को नहीं रचती।" इटली के भाववादी विचारक क्रोचे के सिद्धान्तों का शुक्लजी ने डट कर खंडन किया है

'कला को जीवन के लिए, बताते हुए शुक्ल जी लिखते हैं,—"कला, कला ही के लिए, वाली बात को जीर्ण हो कर मरे हुए बहुत दिन हुए। एक क्या, कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।"

काव्यगत-सौंदर्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए शुक्ल जी की धारणा है कि "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।" सौंदर्य को सुन्दर वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता। जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से भिन्न सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। सौंदर्य की अनुभूति हमें कैसे होती है? कुछ रंग-रूप वाली वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही कुछ काल के लिए हमारी सत्ता पर ऐसे छा जाती हैं कि हमें अपनी सत्ता का ज्ञान ही नहीं रहता। हम कुछ क्षणों के लिए अपने को भूल जाते हैं। इस प्रकार कुछ क्षणों के लिए हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। "अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। दूसरी ओर कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी भी होती हैं जिन की भावना हमारे मन में थोड़ी सी देर भी टिकने नहीं पाती। शुक्ल जी के मतानुसार जिस वस्तु के प्रत्यक्ष-ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जाएगी। अतः सौंदर्य के सम्बन्ध में बाहर-भीतर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है, वही बाहर है। हास्य-रोदन, और सुख-दुःख से भरा यही जगत् हमारे भीतर है जिसे "मन" कहते हैं। बाह्य-जगत् की रूपमयता और गत्यात्मकता के समान यह मन भी गति-रूपमय है।

सौंदर्य का दर्शन मनुष्य केवल मनुष्य में ही नहीं करता, वरन फल-फूल, पशु-पक्षी, पृथ्वी-पर्वत, आदि सभी वस्तुओं में

उसे सौंदर्य झलकता दिखाई देता है। मनुष्य की सत्ता के बोध को भुला देने वाली सौंदर्य-भावना एक विभूति है। सगुणोपासक भक्त कवियों ने राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावना में लीन हो कर इसी मंगलमय विभूति का अनुभव किया है। जिन मनोवृत्तियों का प्रायः बुरा रूप संसार में देखने को मिलता है, कविता उन का भी सुन्दर रूप ढूँढ कर ले आती है। लोग दशानन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर भी मुग्ध होते हैं। काव्य हमारे सामने किसी रूप-सुन्दरी के बाह्य रूप-माधुर्य को ही प्रकट नहीं करता, उस की अन्तर्वृत्ति के सौंदर्य को भी सामने ला कर मुग्ध करता है। काव्य के लिए बुरा-भला, शुभ-अशुभ, कुछ नहीं, उस के केवल दो पक्ष होते हैं :—सुन्दर और कुरूप। शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल धर्मज्ञों का विषय है। कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है चाहे वह वस्तुओं के रूप-रंग में हो अथवा मनुष्य के मन-वचन-कर्म में। प्रभावोत्पादकता के लिए कभी-कभी कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्य का मेल भी किया करते हैं। इस के अतिरिक्त, कभी-कभी कवि लोग भीतरी और बाह्य सौंदर्य के साथ चारों ओर घिरी हुई प्रकृति का भी मेल कर दिया करते हैं। तुलसी ने चित्रकूट की रम्यता में राम और भरत से रूपवानों की अन्तःप्रकृति की रमणीयता दिखाई है।

शुक्ल जी काव्य में चमत्कारवाद के विरोधी हैं। चमत्कार मनोरंजन का साधन है और जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं, वे तो कविता में चमत्कार ढूँढते ही हैं। काव्य का गम्भीर लक्ष्य मानने वाले शुक्ल जी को यह चमत्कारवाद मान्य नहीं। "चमत्कार" से शुक्ल जी का अभिप्राय विलक्षणता से नहीं है जो अद्‌भुत रस का आलम्बन होता है। 'चमत्कार' से उन का तात्पर्य है "उक्ति का चमत्कार", जिस में वर्ण-विन्यास की

विशेषता, शब्दों की क्रीड़ा और वाक्यों की वक्रता तथा दूरारूढ़ कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं होता।

चमत्कार का प्रयोग कुछ भावुक कवियों ने भी किया है, पर केवल वहीं तक जहाँ तक वह भाव की अनुभूति को तीव्रता प्रदान करने में सहायक हुआ है। पद्माकर का यह सीधा सा वाक्य देखिए :—

"नैन नचाय कही मुसकाय, 'लला फिर आइयो खेलन होली।"

इस में विदग्धता कम और स्वाभाविकता अधिक है। इस के विपरीत कुछ ऐसी चमत्कार-पूर्ण उक्तियाँ भी मिलती हैं जिन में एक कवि-महाशय किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलते देख कर इस आशंका से काँप उठते हैं कि इस धवलता के कारण कहीं उन की पत्नी के बाल भी सफेद न हो जाएँ। इस उक्ति में कल्पना को जबरदस्ती कवि कहाँ तक घसीट ले गया है। केशव के ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं जिन में अलंकारों का चमत्कार और केवल उन को भद्दी भरती मिलती है, हृदय-स्पर्शी कोई भावव्यंजना नहीं प्राप्त होती।

"अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंडधारिणी जानि॥"

शुक्ल जी के मतानुसार केवल चमत्कार से पूर्ण कविता सुनना बालवृत्ति है। "कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है।" काव्य और सूक्ति में अन्तर है। कथन के ढंग का अनूठापन, रचना-वैचित्र्य आदि एक सूक्ति के लक्षण हैं।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता भी है और चमत्कार भी तो इन दोनों को प्रधानता के आधार पर हम सूक्ति और काव्य का निर्णय कर सकते हैं। सूक्ति में चमत्कार की प्रधानता होगी, और काव्य में रसात्मकता। यदि किसी उक्ति में अनूठापन प्रधान

भी हो, किन्तु उस की तह में से कोई भाव प्रकट हो तो शुक्ल जी के मतानुसार उसे भी काव्य माना जा सकता है। उदाहरण-स्वरूप देव कवि का एक सवैया देखिए जिस में एक वियोगिनी नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं :—

"साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सबनीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरैं हँसी, हेरि हियो जो लियो हरिजू हरि॥"

इस सवैये में सावयव कल्पना भी, मजमून की पूरी बन्दिश है, चमत्कार का अनूठापन भी, परन्तु उस चमत्कार में अतुलित विरह-वेदना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। दूसरी ओर बिहारी ने अपनी उन विरहाभिव्यक्ति करने वाली उक्तियों में विरह-वेदना से मज़ाक किया है, जिन में उस की वियोगिनी नायिका के शरीर के पास ले जाते-ले जाते ही शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उस के विरह-ताप की लपटों से पड़ोसी माघ के महीने में भी गर्मी से मर रहे हैं और कृशकाय वह इतनी हो गई है कि साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे बढ़ जाती है।

शुक्ल जी के मतानुसार उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा कथन के ढंग में अनूठापन आना काव्य की प्रक्रिया से बाहर नहीं माना जाता। सूरदास की ऐसी भाव-प्रेरित-वक्रता "भ्रमरगीत" में स्थान-स्थान पर मिलती है। अतः भावों की प्रेरणा द्वारा कथन के ढंग में आया हुआ अनूठापन, शुक्ल जी के मतानुसार भाव-विधान का ही अंग है, किन्तु कोरा चमत्कार काव्य में उन्हें

मान्य नहीं।

काव्य की भाषा कैसी होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि काव्य में यह आवश्यक है कि कवि द्वारा कही गई बात हमारे सामने चित्ररूप में आनी चाहिए। इस लिए कविता में प्रत्यक्ष और गोचर रूपों का विधान अधिक किया जाता है। कवि प्राय: ऐसे ही रूपों और व्यापारों को अपनी कविता में प्रस्तुत करता है जो स्वाभाविक हों और अधिक से अधिक व्यक्तियों ने कई बार देखे हों। अगोचर और प्रच्छन्न भावनाओं को भी कवि गोचर रूप देने का प्रयत्न करता है। अत: इस मूर्ति-विधान के लिए उसे भाषा की लक्षण-शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। लक्षण-शक्ति के प्रयोग से स्पष्ट और सजीव रूप-विधान प्रायः सभी देशों के काव्य में मिलता है। अत: वस्तु अथवा तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुकूल अभिव्यक्ति के लिए लक्षण-शक्ति का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना के मूर्त-विधान की आवश्यकता के लिए काव्य की भाषा में दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि उस में जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहने चाहिएँ। अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिन से एक का नहीं, वरन् बहुत से रूपों तथा व्यापारों का एकसाथ अर्थ-ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्द जाति-संकेत-सूचक कहे जाते हैं। ये मूर्त-विधान के प्रयोजन के लिए नहीं होते। "अत्याचार" शब्द से मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना आदि बहुत से व्यापारों की एक अस्पष्ट और मिली-जुली भावना मन में थोड़े समय के लिए आ जाती है। परन्तु कवि इन व्यापक अर्थ-संकेत-सूचक शब्दों को न ले कर विशेष-वस्तु-व्यापार सूचक शब्दों की

सहायता से किसी स्थान पर हुए अत्याचार का दृश्य उत्पन्न करेगा। वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, दारुण दुख, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि का क्षोभकारी दृश्य उत्पन्न करेगा।

काव्यगत-भाषा की तीसरी विशेषता होनी चाहिए भाषा में वर्ण-विन्यास। जिस प्रकार मूर्त-विधान करने के लिए काव्य चित्र-विद्या की पद्धति का अनुसरण करता है, उसी प्रकार नाद-सौन्दर्य के लिए वह संगीत का कुछ आश्रय लेता है। श्रुति-कटु-वर्णों का त्याग, वृत्ति विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौष्ठव के साधन माने गए हैं। शुक्ल जी के मतानुसार नाद-सौन्दर्य से काव्य की आयु बढ़ती है। भोज-पत्र और कागज के आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों के मुख का निवासी बना रहता है। कभी कभी लोग किसी उक्ति का अर्थ समझ न आने पर भी उसे गुनगुनाते देखे जाते हैं। इस का कारण है उस उक्ति का नाद-सौन्दर्य।

हिन्दी-काव्य-भाषा की चौथी विशेषता संस्कृत की देन है। काव्य में कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उन के रूप-गुण अथवा कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार होता है। शुक्ल जी के मतानुसार व्यक्तियों के नाम कृत्रिम संकेत हैं जिन से कविता का पूरा परिपोषण नहीं होता। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, मुरलीधर इत्यादि शब्द कुछ अवतारों के रूप-गुण अथवा कार्य-बोधक शब्द हैं। परन्तु इन के प्रयोग में प्रकरण-विरुद्धता अथवा अवसर-प्रतिकूलता नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति किसी अत्याचारी से छुटकारा पाने के लिए कृष्ण का आवाहन करता है तो उसे अवसर के अनुकूल "हे गोपिकारमण" न कह कर "हे कंस-

निकंदन" कह कर पुकारना अधिक उपयुक्त होगा।

काव्य में अलंकारों का प्रयोग क्यों और कहाँ तक आवश्यक है, इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है कि कविता में कभी किसी "वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए, कभी किसी वस्तु का व्यापार या गुण वहुत वढ़ा कर दिखाना पड़ता है, कभी उस के रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रंग-रूप मिला कर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और - और वस्तुओं को सामने ला कर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग 'अलंकार' कहलाते है।" इन के माध्यम से कविता की प्रभावोत्पादकता वढ़ जाती है। कभी-कभी तो इन का प्रयोग अपरिहार्य (Indispensable) होता है। परन्तु शुक्ल जी साथ ही यह स्पष्ट कर देते हैं कि हैं यह साधन ही, साध्य नहीं। इन का साधन रूप में प्रयोग न करके इन्हें ही काव्य का साध्य मान लेना कविता के रूप को विकृत कर देता है। अतः इन का एक सीमा तक ही प्रयोग होना चाहिए। अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों, चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में और चाहे वे वर्ण-विन्यास के रूप में लाए जाएँ, कवि का ध्येय उन के द्वारा प्रस्तुत-भावना का उत्कर्ष-साधन ही होना चाहिए। परन्तु चमत्कार को काव्य का लक्ष्य मानने वाले तो अलंकार को काव्य का सब कुछ मानेंगे ही। इसी चमत्कार-प्रदर्शन के लिए कवि-परम्परा में कुछ ऐसे उपमान चले जो प्रस्तुत-भावना के उत्कर्ष में साधक न सिद्ध हो कर वाधक ही सिद्ध हुए। प्रभात के सूर्य-विम्ब के सौन्दर्य को "शोणित-कलित कपाल" कहकर व्यक्त करने में प्रस्तुत-सौन्दर्य की भावना

का कुछ भी उत्कर्ष नहीं हुआ है। अतः शुक्ल जी के मतानुसार "अलंकार वर्ण्य-विषय नहीं, वरन् वर्णन की भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं।" आचार्य जी का कथन है कि जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लाद कर सुन्दर नहीं बन सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के बिना अलंकारों का ढेर भी काव्य को सजीव नहीं बना सकता। पहले से सुन्दर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकते हैं। शुक्ल जी के शब्दों में, "सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं, वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर।"

अब हम काव्य में शुक्ल जी के रस-सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। हमारे यहाँ काव्य-सम्बन्धी विभिन्न सम्प्रदाय — अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि एवं रस, प्राचीन काल से प्रचलित हैं। इन में से आचार्य शुक्ल जी का सम्बन्ध रस-सम्प्रदाय से है। किन्तु शुक्ल जी को प्राचीन आचार्यों की रस-सम्बन्धी मान्यताएँ स्वीकार्य नहीं। रस को आनन्द-स्वरूप कहा गया है। शुक्ल जी इस के विरोधी नहीं कि रस आनन्द भी देता है, किन्तु उन का तर्क यह है कि यदि रस आनन्द-स्वरूप है तो फिर काव्य का उद्देश्य क्या हुआ? केवल आनन्द! परन्तु आनन्द को काव्य का चरम-लक्ष्य मान लेना मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थान मानना है। शुक्ल जी का दूसरा तर्क है कि काव्य में क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपना सहज स्वाभाविक रूप छोड़ नहीं देते। इस लिए जब हम कोई दुःखान्त कविता पढ़ते हैं, तो उस की अनुभूति भी दुःखात्मक होती है जब कि रसानुभूति को आनन्दस्वरूप कहा गया है तो दुःखात्मक

अनुभूति काव्य के अन्तर्गत कैसे आ सकेगी ? उन के मतानुसार इस 'आनन्द' शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है, उसे नाच और तमाशे की तरह बना दिया है। मानव-जीवन में भावों का जो प्रकृत स्वरूप दिखाई देता है, काव्य में आ कर वह बदल नहीं जाता। आचार्य शुक्ल जी के तर्क का यह आधार है। "करुण-रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं", केवल बात टालना है। साहित्य-सम्बन्धी सभी भाववादी मान्यताएँ साहित्य को जीवन से भिन्न कर के देखती हैं। किन्तु शुक्ल जी की यह मान्यता कि जीवन के भावों और साहित्य के भावों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं है, मौलिक है। बात यह है कि शुक्ल जी "आनन्द" शब्द को व्यक्तिगत सुख-भोग के अर्थ में ग्रहण न कर के हृदय की मुक्त दशा के अर्थ में ग्रहण करते हैं। उन का कथन है कि हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण ही करुण-रस-प्रधान नाटक का दुःख भी रसात्मक होता है। अपने व्यक्तिगत लाभ वाले विकट कर्म की ओर हमारा जो उत्साह होगा, वह तो शुक्ल जी के मतानुसार रसात्मक न होगा, परन्तु जिस विकट कर्म को हम लोक-कल्याणकारी समझेंगे, उस के प्रति हमारे उत्साह की गति व्यक्तिगत संकुचित परिधि से बद्ध न रह कर बहुत व्यापक हो जाएगी। स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों के दल जिस साहस भरी उमंग (उत्साह) से कोई कठिन काम करने को निकलते हैं, वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है।

आचार्य शुक्ल जी रस को अलौकिक न मान कर लौकिक ही मानते हैं क्यों कि वे जीवन के भावों और साहित्य के भावों में कोई मूल अन्तर स्वीकार नहीं करते। शुक्ल जी रस की स्थिति

साहित्य से अलग, लौकिक जीवन में भी मानते हैं। रस, शुक्ल जी के मतानुसार लोकोत्तरानन्द देने वाला नहीं है। उन के मतानुसार रस अलौकिक न हो कर लौकिक ही है। भाववादी विचारकों ने रस को साहित्य तक ही सीमित रखा। शुक्ल जी लौकिक जीवन में भी इस की स्थिति स्वीकार करते हैं। इसी लिए, अपने हृदय को लोक-हृदय में लीन कर देने की दशा को उन्हों ने रसदशा कहा है।

शुक्ल जी रहस्यवाद और छायावाद के विरोधी हैं। आधुनिक भारतीय रहस्यवाद में उन के मतानुसार गांधीवादी निष्क्रिय प्रतिरोध-भावना छिपी है। इसी को अध्यात्मवाद भी कहा जा सकता है। अध्यात्मवाद को उन्होंने साहित्य-संसार से बहिष्कृत करने की बात की है। शुक्ल जी छायावाद का विरोध करते हुए उसे काव्य-रचना की एक शैली-मात्र समझते हैं जिस में मानव-जीवन को काव्य से परे रख दिया जाता है। कवि प्रकृति के प्रतीकों द्वारा अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति करता है। लोक-हृदय का उस अभिव्यक्ति में अभाव रहता है। इस कटु आलोचना का कारण वास्तव में उन की लोक-कल्याण-भावना का सिद्धान्त है। रहस्यवाद और छायावाद में मानव-जीवन की उपेक्षा की जाती है और शुक्ल जी मानव जीवन के बिना काव्य की स्थिति ही नहीं मानते। इस प्रकार शुक्ल जी ने एक विशेष प्रकार के साहित्य का खंडन किया है और एक विशेष प्रकार के साहित्य का समर्थन। इस में उन का लक्ष्य पाठकों की साहित्यिक रुचि का परिष्कार करना ही था।

काव्य का रूप कैसा होना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी शुक्ल जी के अपने विचार हैं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में प्रबन्ध-काव्य तथा मुक्तक-काव्य के अनेक लक्षण बताए गए हैं। प्रबन्ध-

काव्य में महाकाव्य और खंड-काव्य दोनों आते हैं, क्योंकि कथा का बाँधा जाना (प्रबन्ध) इन दोनों में अपेक्षित है। शुक्ल जी का कथन है कि, "कथा-काव्य या प्रवन्ध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार, भाव-व्यंजना, संवाद आदि अंग होते हैं।" प्रवन्ध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूरा चित्र होता है। यह मानव-जीवन किस वर्ग अथवा काल से सम्वन्धित हो, शुक्ल जी इस को अपनी आलोचना का विषय नहीं वनाते। शुक्ल जी किसी महाकाव्य अथवा खंड-काव्य की आलोचना केवल इस रूप में करते हैं कि इन में कवि घटनाओं की परिणति किसी आदर्श परिणाम में करता है अथवा यों ही उन्हें स्वाभाविक गति से ले जाकर छोड़ देना चाहता है। यदि किसी कवि का उद्देश्य केवल सत् और असत् के परिणामों को पग-पग पर दिखाते चलना है तो शुक्ल जी को ऐसे सीमित परिणाम दिखाना मान्य नहीं। उन का कथन है कि, "ऐसे नपे-तुले परिणाम काव्य-कला की दृष्टि से वनावटी जान पड़ते हैं"। यहाँ शुक्ल जी यथार्थवादी-कलाकारों की भाँति काव्य में सत् और असत् का मिश्रण दिखाने के हामी जान पड़ते हैं। शुक्ल जी प्रवन्ध-काव्य के इतिवृत्त का लम्वा होना आवश्यक मानते हैं और इन काव्यों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण वात घटनाओं के निर्वाह की होती है। प्रासंगिक-कथा मुख्य-कथा की गति को वढ़ाती चले और मुख्य या आधिकारिक कथा अपने चरम-लक्ष्य तक पहुँचनी चाहिए। प्रवन्ध-काव्य का लक्ष्य रसात्मक अनुभूति कराना होना चाहिए, केवल इतिवृत्त प्रस्तुत करना नहीं। केवल इतिवृत्त प्रस्तुत करना इतिहास का कार्य है। अतः प्रवन्ध-काव्य में इतिवृत्त और रसात्मक-स्थल, दोनों अपेक्षित हैं। शुक्ल जी की धारणा है कि जिन के प्रभाव से समस्त कथा में रस का संचार हो जाता

है, वे मानव-जीवन के मर्मस्पर्शी-स्थल हैं। काव्य में कथा की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने में होती है। इस लिए कवि को चाहिए कि वह कथा की गति को इस प्रकार आगे बढ़ाए कि उन में मानव-जीवन के वे स्थल आ सकें जिन के द्वारा हृदय में भावों का उदय हो सके। रसात्मक-स्थल ही प्रबन्ध-काव्य की कथा की गति में विराम उत्पन्न करने वाले होते हैं। किन्तु ये रसात्मक-स्थल ऐसे होने चाहिएँ जिन से कथा की गति बिल्कुल रुक न जाए। शुक्ल जी को ऐसे स्थलों की उपस्थिति मान्य नहीं जिन में कवि का पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र हो। उन्होंने केशव की "रामचंद्रिका" और मैथिलीशरण गुप्त के "साकेत" में कुछ ऐसे स्थलों को ढूंढ निकाला है। निष्प्रयोजन प्रसंगों की उद्भावना शुक्ल जी स्वीकार नहीं करते। गोस्वामी तुलसीदास जी की, इन्हीं मार्मिक-स्थलों को ढूंढ निकालने और उन के द्वारा रसात्मक अनुभूति करवाने के कारण ही शुक्ल जी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। उनके के कथनानुसार तुलसी जी की यह प्रतिभा और कौशल अन्यत्र दुर्लभ है। महाकाव्य में समूचे जीवन का चित्रण रहता है, इसी लिए शुक्ल जी प्रबन्ध-काव्य को गीति-काव्य की अपेक्षा श्रेयस्कर मानते हैं।

कविता की आवश्यकता क्यों पड़ती है, इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है कि 'मनुष्य के लिए कविता, इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी-जातियों में; किसी न किसी रूप में, पाई जाती है।" संसार में चाहे विज्ञान न रहे, इतिहास न रहे, परन्तु कविता अवश्य रहेगी। शुक्ल जी इस का कारण बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है, जिस के भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का

सम्वन्ध भूला सा रहता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर वरावर वना रहता है। अतः अन्तः प्रकृति में कभी-कभी मनुष्यता का उद्वोधन करने के लिए कविता मनुष्य के साथ आदिम युगों से चली आ रही है। इस की आवश्यकता मनुष्यों को ही पड़ती है क्योंकि उन्हें ही मनुष्यता खोने का भय लगा रहता है, पशुओं को इस की आवश्यकता नहीं होती। कविता मानव-जीवन के लिए अपरिहार्य है। शुक्ल जी का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है।

———

# "मानस" की धर्मभूमि

"मानस" से तात्पर्य यहाँ, भारत-हृदय, भारती-कण्ठ, भक्तचूड़ामणि, कविश्रेष्ठ, गोस्वामी तुलसीदास जी की अमर कृति "रामचरित मानस" से है, जिस में उन के चरितनायक भगवान् राम की जीवन-लीला को प्रतिबिम्बित किया गया है। शुक्ल जी के मतानुसार, काव्य में लोक-मंगल एवं लोक-संग्रह का सिद्धान्त अपेक्षित है। उन की दृष्टि में वही काव्य अथवा धर्म श्रेष्ठ है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों का कल्याण कर सके। अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर उन्हों ने "मानस की धर्म-भूमि" की विवेचना की है।

आचार्य शुक्ल जी धर्म की परिभाषा देते हुए लिखते हैं, "धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिस की असीमता का आभास अखिल-विश्व स्थिति में मिलता है।" मनुष्य जब विश्व के कण-कण में ब्रह्म के सत्स्वरूप की भावना का अनुभव करता है, तब यही धर्म कहलाता है। भगवान् का यह सत्स्वरूप परिवार, कुल, समाज, देश और समस्त विश्व में देखा जा सकता है। छोटे-छोटे क्षेत्रों से ले कर अखिल भूमण्डल तक इस का प्रकाश फैला हुआ है। अब यह मनुष्य पर निर्भर है कि उस की साक्षात्कार करने की दृष्टि संकुचित है अथवा व्यापक! यदि उस की दृष्टि संकुचित है तो वह परिवार अथवा कुल-रक्षा तक ही जाएगी, और यदि उस से ज़रा व्यापक हुई तो जाति अथवा समाज तक पहुँच सकेगी, परन्तु यदि उस की दृष्टि बहुत ही व्यापक है तो फिर वह परिवार, समाज और

जाति की परिधि लाँघ कर समस्त चराचर का केन्द्र-बिन्दु उसी सत्स्वरूप ईश्वर को समझने लगेगी, समस्त चर और अचर सृष्टि में उसी की स्थिति का अनुभव करेगी। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में :—"सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं ; भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे, उन की भावना कुलनायक या कुलदेवता तक ही पहुँचेगी, किसी जाति या देश-विशेष के भीतर जो करेंगे, उन की भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य-देवता तक पहुँच कर रह जाएगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर जा कर सन्तुष्ट नहीं होती। वह अखिल-विश्व के बीच सत् की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना करता है !" व्यावहारिक जीवन में हम देखते हैं कि कुछ व्यक्ति अपने परिवार से बाहर ही नहीं निकलते। आत्म-रक्षा और परिवार-रक्षा ही उन के जीवन का लक्ष्य होता है। ऐसे व्यक्ति यदि किसी की भक्ति करेंगे तो वह उन का कुल-देवता होगा जिस की आराधना पूर्वजों से होती आई है। उस कुल-देवता के कोप के भय से उस अखिल-विश्व व्यापी सत्स्वरूप की तो बात ही क्या वे किसी अन्य देवी-देवता तक का घर में नाम नहीं लेंगे। (उदाहरणस्वरूप - कुलदेवता 'श्याम' जी' की आराधना करने वाले 'देवी' की पूजा नहीं करते।) कुल की परिधि से बाहर निकल कर कुछ लोग अपने जातिगत देवताओं की उपासना करते देखे जाते हैं। किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में भक्त की दृष्टि इन सब से अधिक व्यापक होती है। भक्त कुलदेवता, ग्रामदेवता, जाति-उपास्य देव की आराधना के घेरे से निकलकर उस कण-कण-व्यापी सत्स्वरूप की भावना का साक्षात्कार करने

के लिए साधना में रत रहता है। भक्त के भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार करता है तो 'आनन्द' का आविर्भाव होता है। ईश्वर के तीन स्वरूप हैं :—सत्, चित् और आनन्द। इन का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। तीनों के मेल से उस दिव्य-स्वरूप की प्राप्ति होती है। सत् से साक्षात्कार कर के भक्त साधना द्वारा भगवान् का सामीप्य-लाभ करता है। उसे अपने भीतर और बाहर उसी भगवान् की स्थिति का अनुभव होता है। इसी लिए तुलसी जी को राम, "अन्तरजामिहु ते बड़ बाहर जामी" प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की ऊँची-नीची अनेक भूमियाँ दिखाई देती हैं - गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म, और विश्व-धर्म अथवा पूर्ण-धर्म। किसी सीमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जन-समूह के लिए कल्याणकारी धर्म उच्च कोटि का धर्म माना जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जितना व्यापक लक्ष्य किसी धर्म का होगा, उतना ही उच्चकोटि का धर्म वह समझा जाएगा। शुक्ल जी के मतानुसार,'गृह-धर्म या कुल-धर्म से समाज-धर्म श्रेष्ठ है, समाज-धर्म से लोक-धर्म, लोक धर्म से विश्व-धर्म, जिस से धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है।" विश्व-धर्म अथवा पूर्ण-धर्म अंगी है और शेष सब धर्म उस पूर्ण-धर्म के अंग कहलाएँगे। विश्व-धर्म अथवा पूर्ण-धर्म का सम्बन्ध समस्त विश्व के कल्याण और रक्षा से है और इसी के द्वारा उस सत्स्वरूप पुरुषोत्तम की अनुभूति होती है। इस की अनुभूति केवल उच्च कोटि के भक्तों को ही हो सकती है। जिन सच्चे भक्तों को उस पूर्ण पुरुषोत्तम की अनुभूति होती है, उन के आचरण का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृह-धर्म पर दृष्टि रखने वाला जिस

प्रकार अपने परिवार को सुरक्षित देख कर आनन्दित होता है, वर्ग-धर्म पर दृष्टि रखने वाला समाज अथवा वर्ग की रक्षा देख कर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार विश्व-धर्म पर दृष्टि डालने वाला समस्त प्राणि-मात्र की रक्षा देख कर आनन्द का अनुभव करता है। केवल सच्चे भक्त ही पूर्ण-धर्म-स्वरूप भगवान की अनुभूति स्वयं प्राप्त कर सकते हैं और फिर दूसरों को भी उस अनुभूति का अनुभव कराते हैं। सच्चे-भक्तों का धर्म क्योंकि अत्यन्त व्यापक होता है, इस लिए उन की कामना यही रहती है कि विश्व के सभी प्राणी—कीट-पंतग से ले कर मनुष्यों तक—सब की रक्षा हो सके और उनकी रक्षा करने के लिए वे सदा तत्पर रहते हैं। प्राणिमात्र की रक्षा देख कर उन्हें असीम आनन्द की प्राप्ति होती है और शुक्ल जी के मतानुसार, लक्ष्य की व्यापकता के कारण उन का आनन्द भी उच्च कोटि का होता है।

आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार अब तक धर्म की जो ऊँची-नीची भूमियों का उल्लेख हुआ है, वह धर्म के 'स्वरूप' के सम्बन्ध में था, धर्म के 'पालन' के सम्बन्ध में नहीं। उपर्युक्त ये विभिन्न धर्म-भूमियाँ धर्म के विभिन्न स्वरूप हैं। धर्म के स्वरूप और उस के पालन में कभी-कभी अन्तर देखा जाता है। ऊँचे से ऊँचे धर्म के स्वरूप का आचरण अत्यन्त निम्न कोटि का हो सकता है और दूसरी ओर निम्न से निम्न धर्म के स्वरूप का आचरण उच्च से उच्च कोटि का हो सकता है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—"(१) गरीबों का गला काटने वाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं। (२) अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देने वाले, अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के स्वरूप और धर्म के पालन में कभी-कभी भिन्नता दिखाई

दे जाती है । दैनिक जीवन में ऐसे उदाहरण प्रायः मिल जाया करते हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास जी की भक्ति-पद्धति भगवान् के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और अनुभूति को ले कर चलती है । तुलसी जी के राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं । वे विश्व-कल्याण और विश्व-रक्षा को अपने जीवन में अपनाये हुए हैं, इस लिए वे विश्व-धर्म अथवा पूर्ण धर्मस्वरूप हैं । तुलसीदास जी ने अपने चरितनायक राम के चरित्र में धर्म के विभिन्न स्वरूपों (भूमियों) की ज्योति देखी है । राम के चरित्र में धर्म की वे सभी भूमियां मिल जाती हैं जिन पर लोक-कल्याण और लोक-रक्षा की स्थिति है । धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का (क्योंकि ब्रह्म शुद्ध अथवा पूर्ण धर्मस्वरूप है) प्रकाश इसी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत् में होता है । इस लिए भक्त को भगवान् का साक्षात्कार इसी व्यक्त जगत् के भीतर हो सकता है । संसार के अनेक कर्मक्षेत्रों के बीच उस सत्स्वरूप ईश्वर की दिव्य ज्योति का दर्शन कर के आनन्द-लाभ कर सकता है । मानव का विकास धर्म द्वारा ही सम्भव है और धर्म का विकास करने के लिए उसे व्यावहारिक जीवन में ही उतरना पड़ेगा । निर्गुणवादियों की ओर संकेत करते हुए शुक्ल जी कहते हैं, "भगवान् की इस स्थिति-विधायिनी व्यक्त कला में हृदय न रमा कर, वाह्य जगत् के नाना कर्म-क्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न कर के जो आँख मूँदे अपने अन्तःकरण के किसी कोने में ही ईश्वर को ढूंढा करते हैं, उन के मार्ग से गोस्वामी जी का भक्ति-मार्ग अलग है ।" अतः जब उस पूर्ण या शुद्ध धर्मस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश बाह्य-जगत् में स्फुरित हो रहा है तो अन्तःकरण के कोने में ढूंढने से क्या लाभ ? हृदय के भीतर ब्रह्म की खोज

करने वाले निर्गुण भक्तों के भक्तिमार्ग से सगुणोपासक गोस्वामी तुलसीदास जी का भक्ति-मार्ग नितान्त भिन्न है। एक का लक्ष्य भीतर है और दूसरे का बाहर। तुलसी जी का भक्ति-मार्ग तो ब्रह्म के सत्स्वरूप का पल्ला पकड़ कर धर्म के नाना स्वरूपों (भूमियों) में से गुज़रता हुआ आगे बढ़ता है। लोक में जब कभी भक्त धर्म के स्वरूप को तिरोहित हुआ देखता है, तो इस का अर्थ है कि ब्रह्म उस की बाहरी आँखों के आगे से ओझल हो गया है, क्योंकि ब्रह्म पूर्ण धर्मस्वरूप है, इस लिए लोक से धर्म के स्वरूप के तिरोहित होने का अर्थ है सत्स्वरूप ब्रह्म का तिरोहित होना। सत्स्वरूप ब्रह्म के आँखों के सामने से हट जाने पर भक्त को उस ब्रह्म का वियोग आ घेरता है, जिस के कारण वह व्याकुल रहने लगता है। उपास्य का आँखों के सामने से ओझल हो जाना, भक्त के लिए इस से बड़ा कोई दुःख नहीं। वियोग का यह दुःख भक्त से सहन नहीं होता। कुछ समय पश्चात्, जब अधर्म के अन्धकार को चीर कर धर्म की ज्योति फूट पड़ती है तो इस का अर्थ होता है सत्स्वरूप ब्रह्म का आविर्भाव होना। अंधकार के आवरण को हटा कर फूटने वाली ज्योति भक्त के प्रिय भगवान् का मनोहर रूप होती है जिसे देखकर उस का वियोग और वियोग-प्रसूत आकुलता समाप्त हो जाते हैं और वह प्रिय-मिलन के आनन्द से पुलकित हो उठता है।

हमारे शास्त्र-ग्रंथों में धर्म द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। शुक्ल जी के मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति का भी मार्ग हो, पर वह धर्म के मार्ग से अलग नहीं हो सकता। धर्म का विकास हमारे व्यावहारिक जीवन में तब होता है, जब हम दूसरों से सम्पर्क स्थापित कर के उन से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जीवन की पूर्णता कर्म, (धर्म) ज्ञान और भक्ति के समन्वय

में ही परिलक्षित होती है, इन में से किसी भी अंग का एक-दम लोप नहीं होना चाहिए। साधना में कभी किसी अंग की प्रधानता रहती है तो कभी किसी की। किन्तु जीवन की पूर्णता और सार्थकता इसी में है कि ये तीनों अंग साथ-साथ चलते रहें। कभी कोई साधक कर्म को प्रधानता दे कर अन्य दो अवयवों—ज्ञान और भक्ति—को अंग रूप में रख कर चलता है, कोई ज्ञान को अंगी मान कर चलने के कारण धर्म और भक्ति को अंग रूप में लेता है। परन्तु रहते तीनों ही हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी भक्ति को प्रधानता दे कर चलने वाले भक्तिमार्गी थे। तुलसी जी की भक्ति-भावना में यद्यपि भक्ति के साथ ज्ञान और धर्म का भी योग देखने को मिलता है, परन्तु इन में भी धर्म का योग पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। उन की भक्ति-भावना का धर्म-भावना से नित्य और स्थायी सम्बन्ध है। तुलसी जी के समय में भावों की संकीर्णता के कारण धर्म, ज्ञान और भक्ति को अलग-अलग कर दिया गया था। तुलसी जी ने उन का फिर एकीकरण किया और राम के रूप में उस का प्रस्फुटन हुआ। तुलसी जी की भक्ति में धर्म का संकुचित रूप नहीं, वरन् विश्व-धर्म का प्राधान्य रहा।

तुलसी जी के "रामचरितमानस" में—धर्म की ऊँची-नीची अनेक भूमियों (स्वरूप) के दर्शन होते हैं—गृह-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म, राजा का धर्म और प्रजा का धर्म तथा पूर्ण और शुद्ध विश्व धर्म सभी की लावण्यमयी झाँकी 'मानस' में देखने को मिलती है। धर्म-भूमियों की इस विविधता के कारण कुछ लोग 'मानस' में कुछ शंकाएँ उठाते हैं। शुक्ल जी इन शंकाओं का समाधान विश्व-धर्म के आधार पर करते हैं। लोक-हृदय को शुचिता प्रदान करने वाला भरत का चरित्र भी इन शंकाओं से

अछूता नहीं रहा है। भरत तो अत्यन्त शीलवान्, पवित्र-हृदय एवं सच्चरित्र पात्र था। राम के वन-गमन पर उस ने अपनी माता को अत्यंत अशिष्ट और मर्यादा-प्रतिकूल शब्द क्यों कहे? उस समय उस की सच्चरित्रता कहाँ गई थी? बस यही है लोगों की भरत के प्रति शंका। इसका उत्तर शुक्ल जी इस प्रकार देते है कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के सुख-दुःख से सम्बन्धित होगा, उतना ही उच्च कोटि का कहलाएगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता पर निर्भर है। धर्म-उत्कृष्ट पात्र भी पूर्ण, शुद्ध एवं व्यापक धर्म-भावना का तिरस्कार होते देख कर क्रुद्ध हो उठेगा, यह स्वाभाविक है। तुलसी जी राम को पूर्ण-धर्मस्वरूप मानते हैं। अखिल विश्व की स्थिति और रक्षा उन्हीं से है। तुलसी जी के लिए धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। राम और धर्म एक ही हैं। तुलसी जी की दृष्टि में, जिन को राम प्रिय नहीं, उन्हें धर्म भी प्रिय नहीं हो सकता। राम के प्रति जिन को प्रेम नहीं वे लोग, परम-सम्बन्धी होने पर भी शत्रु के समान छोड़ देने योग्य हैं:—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो नर तजिअ कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥"

इसी व्यापक लोक-धर्म की रक्षा करने के लिए तुलसी जी ने भरत से, अपेक्षाकृत संकुचित धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करवाया है। अपने सर्वोत्कृष्ट एवं प्रिय पात्र के द्वारा भी लोक-धर्म की रक्षा के हेतु शिष्ट-मर्यादा का उल्लंघन कराने में तुलसी जी पीछे नहीं हटे हैं, क्योंकि लोक-धर्म उन्हें अपने प्रिय पात्रों से भी अधिक प्रिय है। भरत की माता कैकेयी ने राम का विरोध करके उसे वन भिजवा दिया। राम के इस विरोध का अर्थात्

धर्म के इस विरोध का भयंकर दुष्परिणाम आगे आता है। राम और सीता के घर त्यागते ही अयोध्या की प्रजा बेहाल हो जाती है, दशरथ संसार छोड़ जाते हैं। इस दृष्टि से भरत का अपनी माता के प्रति क्रोध स्वाभाविक ही है। भरत एक राजकुमार और धर्म-परायण व्यक्ति थे। वे कोई संसार-त्यागी विरक्त महात्मा तो थे नहीं कि उन्हें धर्म का ऐसा तिरस्कार देख कर, और उस तिरस्कार का इतना भीषण परिणाम देख कर भी क्रोध न आता। उन के लिए यह कहां तक उचित था कि वे यह सब कुछ देख कर भी केवल-मात्र अपनी साधुता का परिचय देने के लिए अपना क्रोध पी जाते, और फिर यदि वे क्रोध न करते तो उन के राम-प्रेम, धर्म-प्रेम और लोक-प्रेम का परिचय कैसे मिलता? ऐसा करने पर उनके लोक-पावन चरित्र में राम-प्रेम और लोक-प्रेम को कोई स्थान न होता। प्रिय के तिरस्कार और विरोध को देख कर भी जो क्रोध नहीं करता, उस का प्रिय के प्रति प्रेम कैसा? भरत को, भगवान् राम के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। काव्य-दृष्टि से भी उन के क्रोध की अभिव्यंजना ने एक लक्ष्य-विशेष की पूर्ति की है। महाकाव्य या खंड-काव्य में जहां धर्म पर भीषण और क्रूर आघात सामने आता है, वहां श्रोता या पाठक अन्यायी को उचित दण्ड पाता हुआ देखना चाहता है। यदि उसे कथा-वस्तु के भीतर ही दण्ड देने वाला पात्र देखने को मिल जाता है, तो उस का हृदय सन्तुष्ट हो जाता है। "मानस" में उसके लिए भरत से बढ़ कर और कौन पात्र हो सकता था? इस के अतिरिक्त, कवि का एक और उद्देश्य भी था। वे कैकेयी के हृदय में अपने किए पर ग्लानि का भाव-दिखाना चाहते थे, जिस के लिए भरत ही एकमात्र उपयुक्त पात्र था। जिस कैकेयी ने भरत

को राज्य दिलाने के लिए इतना बड़ा अनर्थ खड़ा किया, वे ही उसे कटुवचन कहते हैं, उस समय कैकेयी को कितनी आत्म-ग्लानि हुई होगी ? भरत के क्रोध की व्यंजना तुलसी जी के इस लक्ष्य की पूर्ति करती है।

शुक्ल जी इस सम्बन्ध में अपना निर्णय इन शब्दों में देते हैं :—"सारांश यह कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना हो तो उस के मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य में तो प्राय: ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबाध व्यंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है"।

लोग प्राय: "घर के भेदा" को विभीषण कहते देखे जाते हैं किन्तु यहाँ शुक्ल जी ऐसे लोगों की दृष्टि को संकुचित बता कर विभीषण की गृह-भेद की नीति अथवा उसके भ्रातृ-द्रोह का समर्थन करते हैं। उन का तर्क है कि जो लोग विभीषण को, 'घर का भेदिया अथवा भ्रातृ-द्रोही' कहते हैं, यह उन की गृह-नीति या कुल-धर्म की स्थूल एवं संकुचित दृष्टि का परिचायक है। गोस्वामी जी ने तो उसे परम भगवद्भक्त के रूप में चित्रित किया है। विभीषण को भक्तों की श्रेणी में लाते समय तुलसी जी की दृष्टि गृहनीति अथवा कुलधर्म की संकुचित सीमा को लाँघ कर व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की ओर थी। धर्म की इसी उच्च एवं व्यापक भावना के अनुसार ही विभीषण को भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। रावण का चरित्र एक लोक-पीड़क का चरित्र है। उस के निर्मम और क्रूर अत्याचारों के कारण तीनों लोक व्याकुल हैं। उसके अनुयायी राक्षस अकारण ही लोगों को पीड़ा पहुँचाते हैं और ऋषियों का वध करते हैं,

उन के यज्ञों को विध्वंस करके, उन की धर्म-साधना में व्याघात पहुँचाते हैं। लोक उन के अत्याचारों से "त्राहि-त्राहि"—कार रहा है। धर्म के स्तम्भ डगमगा रहे हैं। रावण के राज्य में यह अनर्थ और अत्याचार हो रहा है, परन्तु विभीषण को कवि ने उन से अलग दिखाया है। वह राक्षसराज रावण का भाई अवश्य है, परन्तु लंका के एक कोने में रह कर साधु-जीवन व्यतीत कर रहा है। राज्य के ऐश्वर्य ने उसे कोई सरोकार नहीं है। उस के पवित्र हृदय में अखिल लोकरक्षक भगवान् राम की भक्ति हिलोरें ले रही है। सीताहरण के पश्चात् रावण का अधर्म अपनी चरम सीमा को छू लेता है। हनुमान से लंका में भेंट होने पर विभीषण को धर्मस्वरूप भगवान् के अवतरित होने का आभास होने लगता है। इस पर उस की उच्च धर्म-भावना और भी ऊंची हो जाती है। अब वह अपने बड़े भाई रावण को समझाता है कि वह अधर्म अब भी छोड़ दे। परन्तु जब रावण किसी प्रकार नहीं मानता तो उस समय विभीषण के सामने दो धर्मों के पालन का प्रश्न खड़ा हो जाता है। एक ओर गृह अथवा कुल के धर्म का पालन है और दूसरी ओर उस से कहीं उच्च एवं व्यापक धर्म का पालन। यह हम पहले बता आए हैं कि भक्त की धर्म-भावना अपने गृह अथवा कुल की तंग परिधि के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। उस के सामने तो समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य होता है। इसी लिए विभीषण ने तुरन्त लोक-कल्याण-विधायक धर्म का आश्रय लिया और वह धर्म-मूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में चला गया। उस ने लोक-धर्म की दृष्टि से सर्वथा उचित कार्य्य ही किया।

अतः "मानस की धर्म-भूमि" विश्वधर्म पर आश्रित है। मानव के कर्म-क्षेत्र के विस्तार के अनुरूप ही ब्रह्म की व्यापक

सत्ता का अनुभव होता है, जिस की अन्तिम परिणति विश्व-वन्धुत्व की भावना में होती है। इसी विश्व-धर्म या लोक-धर्म की भावना से प्रेरित हो कर शुक्ल जी ने "मानस" की 'धर्म-भूमि' की विवेचना की है।

---

# शुक्ल जी की भाषा-शैली

शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक कहावत साहित्य-क्षेत्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध है, जिस का प्रयोग किसी लेखक की शैली एवं व्यक्तित्व का विवेचन करते समय विद्वान् आलोचक प्रायः किया करते हैं कि "शैली ही व्यक्तित्व है" (Style is the man)। किसी वस्तु की अभिव्यक्ति के ढंग को शैली कहा जाता है और इस अभिव्यक्ति में ही लेखक का व्यक्तित्व झलक रहा होता है। परन्तु प्रत्येक लेखक की अभिव्यक्ति के ढंग में एक विशिष्टता रहती है जो उसे अन्य लेखकों से विलग करती है। यह विशिष्टता ही उस के व्यक्तित्व की विशिष्टता है। इस प्रकार शैली से हमें लेखक के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है। यह कथन हिन्दी गद्यलेखकों में शुक्ल जी के लिए सब से अधिक संगत जान पड़ता है। शुक्ल जी के निबन्धों और उन के निबन्धों की शैली के विश्लेषण से उनके मस्तिष्क के गाम्भीर्य और उन के हृदय की सरसता का उद्घाटन हो जाता है। आधुनिक गद्य-लेखकों में सबसे गम्भीर, संयत एवं प्रभावपूर्ण शैली शुक्ल जी की ही मानी जाती है। उन की शैली के अनुरूप ही उन का व्यक्तित्व भी अत्यंत गम्भीर और प्रभावशाली है। हिन्दी के बड़े-बड़े आलोचक भी आचार्य शुक्ल जी की शैली के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। शुक्ल जी की शैली से प्रभावित हो कर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उन के वक्तव्यों की सरसता उन की बुद्धि की आँच से सूख जाती थी, और उन के मतों का लचीलापन जाता रहता

(१) समीक्षात्मक शैली।
(२) गवेषणात्मक शैली।
(३) भावात्मक शैली।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गम्भीर समीक्षात्मक शैली का शुक्ल जी को जन्मदाता माना जाता है। शुक्ल जी की आलोचनात्मक शैली में गाम्भीर्य, संयम, संतुलन और मार्मिकता बराबर मिलती है। इस शैली में वाक्य अधिकतर छोटे-छोटे मिलते हैं। लेखक के विचारों की अभिव्यक्ति में कहीं कोई अस्पष्टता नहीं दिखाई देती। विषय का निरूपण अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है। इस शैली में व्यंग्यात्मक स्थलों पर आचार्य जी के वाक्य अपेक्षाकृत लम्बे हो गए हैं। इस समीक्षात्मक-शैली के भी दो रूप मिलते हैं :—

(१) सैद्धान्तिक (Theoretical)
(२) व्यावहारिक (Practical)

इस सैद्धान्तिक शैली का रूप हमें उन के काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित निबन्धों में प्राप्त होता है, जैसे :—"काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था", "कविता क्या है ?" और "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद" आदि। यहां लेखक ने काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी विषयों के लक्षण और फिर उन के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। ऐसे निबन्धों में शुक्ल जी पैराग्राफ़ के आरम्भ में ही विषय का लक्षण दे देते हैं। शायद यह उन के अध्यापक होने के कारण हुआ है। जिस प्रकार कोई अध्यापक, श्रेणी में प्रवेश करते ही उस दिन पढ़ाए जाने वाले विषय के आरम्भ में ही पहले उस विषय का लक्षण दे देना उचित समझता है और फिर अनेक उदाहरणों से उस की व्याख्या करता है, बिल्कुल यही ढंग शुक्ल जी के निबन्धों में मिलता है। उन की यह शैली

प्राय: उन के सभी प्रकार के निबन्धों में पाई जाती है। शुक्ल जी के निबन्ध पढ़ते समय पाठक को ऐसा आभास होने लगता है कि वह किसी श्रेणी के कमरे में बैठा हो, और आचार्य जी सामने खड़े कुछ समझा रहे हों। एक उदाहरण प्रस्तुत है :— शुक्ल जी काव्य और जीवन का सम्बन्ध बताते हुए अपने निबन्ध "कविता क्या है ?" में जीवन का लक्षण इस प्रकार देते हैं :— "मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिए दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ता हुआ अन्त तक चला चलता है और इसी को जीना कहते हैं।" इस प्रकार सूत्र रूप में विषय का प्रतिपादन कर के वे आगे बढ़ते हैं और अनेक उदाहरणों द्वारा विषय को अच्छी तरह स्पष्ट कर देते हैं। यह तो हुआ विषय का आरम्भ। एक कुशल अध्यापक की भाँति विषय को, पाठकों को बोधगम्य कराने के लिए निबन्ध के बीच में और कहीं अन्त में "सारांश यह" कह कर सारे निबन्ध का केन्द्रीय-भाव (Central idea) एक बार फिर पाठकों के सामने रख देते हैं जिस के परिणामस्वरूप पाठक अत्यंत संक्षिप्त रूप में मानो फिर एक बार ही सारे निबन्ध को पढ़ जाता है। एक उदाहरण हमारी बात को भली प्रकार स्पष्ट कर देगा। "तुलसी का भक्ति-मार्ग" निबन्ध में भक्ति का मूल तत्त्व बताते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि :—"सारांश यह कि भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है। इस भावना को दो ही व्यक्तियों में गोस्वामी जी ने बड़े ही सीधे-साधे ढंग से व्यक्त कर दिया है...।"

व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत हमें शुक्ल जी के "तुलसी का भक्ति मार्ग", "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र," और "मानस की धर्म–

भूमि" आदि निबन्ध प्राप्त होते हैं। सैद्धान्तिक कोटि के निबन्धों की अपेक्षा इन निबन्धों में शैली का इतना गाम्भीर्य नहीं मिलता। "'मानस' की धर्म भूमि' से एक उदाहरण देखिए :—"इस राम-विरोध या धर्म-विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोकमग्न हो जाती है। दशरथ प्राण-त्याग करते हैं। भरत कोई संसारत्यागी विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देख कर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु वचन तक न कहते तो उन के राम-प्रेम का उन के धर्म-प्रेम का, उन की मनोवृत्तियों के बीच क्या स्थान दिखाई पड़ता? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उस के प्रेम का पता कहाँ लगाया जाएगा?" यहाँ शुक्ल जी की शैली अपेक्षाकृत कम गम्भीर होकर आई है। तुलसीदास, सूरदास और जायसी की आलोचनाओं में शुक्ल जी की समीक्षात्मक शैली अत्यन्त परिष्कृत हो कर सामने आती है। इन कवियों की आलोचना में, विशेष ध्यान से देखने पर पता लगता है कि लेखक ने यहाँ अपनी व्यावहारिक शैली के दो रूप रखे हैं। एक रूप तो ऐसा है जहाँ लेखक छोटे-छोटे वाक्यों में ही गम्भीर से गम्भीर विषय का स्पष्टीकरण करता चलता है, जैसे:—"पद्मिनी क्या सचमुच 'सिंहल' की थी? पद्मिनी सिंहल द्वीप की हो नहीं सकती। यदि 'सिंहल' ठीक मानें तो वह राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान होगा। न तो सिंहल द्वीप में चौहान आदि राजपूतों की बस्ती का कोई पता है, न इधर हजार वर्ष से कूप-मंडूक बने हुए हिन्दुओं के द्वीप में जा कर विवाह सम्बन्ध करने का।" (मलिक मुहम्मद जायसी)

इस शैली का द्वितीय रूप उस समय मिलता है जब लेखक किसी अनुचित बात से तंग आ कर क्षुब्धता दिखाता है। उस की यह क्षुब्धता फिर तीखे व्यंग्यबाण फेंकने लगता है। शुक्ल जी अत्यन्त कुशलता के साथ अपनी क्षुब्धता प्रकट कर जाते हैं। जैसे :—"कटाक्ष या नेत्रों को 'अनियारे', 'नुकीले' तक कह देना तो ठीक है, पर ऊहात्म या वस्तु-व्यंजनात्मक पद्धति पर इस कल्पना को और आगे बढ़ा कर शरीर पर सचमुच घाव आदि दिखाने लगना काव्य की सीमा के बाहर जाना है। जैसा कि एक कवि जी ने किया है :—

"काजर दे नहिं ए ही सुहागिनी।
आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन॥"

"यदि कटाक्ष से उंगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए। कटाक्ष मन में चुभते हैं, न कि शरीर पर प्रत्यक्ष घाव करते हैं।" कितना विनोदपूर्ण व्यंग्य है।

गवेपणात्मक समीक्षा के अन्तर्गत आचार्य जी ने खोजपूर्ण तथ्य प्रस्तुत कर के साहित्य के कुछ नूतन विपयों की गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की है। शुक्ल जी ने इस खोज-सम्बन्धी आलोचना में अत्यन्त क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है जिस के परिणाम-स्वरूप उन की गवेषणात्मक शैली अत्यन्त गम्भीर हो उठी है। यह उन की शुद्ध आलोचनात्मक शैली कही जा सकती है जिस में व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। इस का वाक्य-विन्यास आलोचनात्मक शैली के वाक्य-विन्यास जैसा ही है, किन्तु शब्द-योजना में थोड़ा अन्तर अवश्य मिलता है। इस शैली में शुक्ल जी को कुछ नवीन शब्द-निर्माण करना पड़ा है क्योंकि यहाँ उन्हों ने पूर्वी और पश्चिमी साहित्य

के सम्बन्ध में गहन मनन और चिन्तन के उपरान्त कुछ नवीन गवेषणाएँ प्रस्तुत की हैं।

भावात्मक शैली के दर्शन हमें शुक्ल जी के मनोविकारों अथवा भावों पर लिखे निबन्धों में होते हैं। हिन्दी-साहित्य में भावों पर व्यवस्थित रूप से निबन्ध लिखने का प्रथम प्रयास आचार्य शुक्ल जी द्वारा किया गया। निबन्ध-लेखन के एक विशेष ढंग को अपना कर शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य को उच्च-कोटि के निबन्ध-रत्न देकर भारती के विशद कोष में अभिवृद्धि की है। इन निबन्धों में अपनाई गई शैली उन की आलोचनात्मक शैली से कुछ भिन्न है। छोटे-छोटे सरल वाक्यों के द्वारा अमूर्त भावों को भी शुक्ल जी ने अत्यन्त सरस ढंग से मूर्तिमान कर दिया है, उन्हें बोधगम्य बना दिया है। भाषा के प्रवाह और उस के लोक-प्रचलित तथा व्यावहारिक प्रयोग के कारण शुक्ल जी की भाव-व्यंजना में भी प्रवाह दिखाई देता है। यह इस शैली की अपनी विशेषता है। विचार-शक्ति का यहाँ सुन्दर संगठन परिलक्षित होता है। बुद्धि-पक्ष के साथ भाव-पक्ष का सामंजस्य इन निबन्धों में अपूर्ण है। यहाँ भी लेखक भावों की परिभाषा निबन्ध के आरम्भ में ही दे जाता है। छोटे-छोटे वाक्यों में ही इन गहन गम्भीर भावों की परिभाषा निबन्धकार ने दे दी है। स्पष्टता के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत करें, तो अनुचित न होगा। करुणा की परिभाषा देखिए। कितनी सरस एवं सरल है :—

"जब बच्चे को सम्बन्ध-ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है, तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती, जिसे करुणा कहते हैं।"

'लोभ' का स्वरूप देखिए, वह कैसा होता है:—

"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के

सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिस में उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही, प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। "एक ही सरल वाक्य में निबन्धकार ने 'लोभ', (जिसने सारी दुनिया को पागल कर रखा है) का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है। 'भक्ति' क्या है ? यह भी देखिए :- "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम 'भक्ति" है।" इन परिभाषाओं से न केवल हमें इन भावों के स्वरूप का ज्ञान होता है, वरन् इस का व्यावहारिक महत्त्व भी है। व्यावहारिक जीवन में हम इन भावों का प्राय: अशुद्ध प्रयोग कर जाते हैं। हमारे मन में भाव 'ग्लानि' का उत्पन्न होता है और हम अज्ञानवश "लज्जा" शब्द का प्रयोग कर जाते हैं। ऐसी ही स्थिति अन्य भावों के प्रयोग में भी रहती है, विशेषतया जिन में अन्तर बड़ा सूक्ष्म होता है। जैसे लोभ और प्रीति, सहानुभूति और करुणा, लज्जा और ग्लानि आदि। निबन्धकार शुक्ल जी ने इन मनोविकारों और उन के भीतर छिपे हुए विभिन्न भेदों-उपभेदों की सरल और सरस परिभाषा देते हुए इन का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। इस से हमारी अशुद्ध-प्रयोग वाली समस्या भी हल हो जाती है और शुक्ल जी की निबन्ध-पटुता और प्रतिभा का ज्ञान भी हो जाता है। इतने गम्भीर विषय की इतनी सरल विवेचना एवं व्यख्या आचार्य जी ही कर सकते हैं। यह उनके व्यक्तित्व के ही अनुरूप है। इन मनोविकारों अथवा भावों की व्याख्या किसी अन्य निबन्धकार के हाथों में पड़ कर कितना विकृत रूप धारण करती, हम अनुमान नहीं कर सकते। यदि विकृत न होती, तो भी इतनी स्पष्ट तो न होती, इतना हम दावे से कह सकते हैं, क्योंकि दृष्टि दौड़ाने पर शुक्ल जी जैसी पारदर्शिनी और विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि के दर्शन कम से कम निबन्ध-क्षेत्र में

तो नहीं होते। निबन्ध-क्षेत्र में अब तक तो शुक्ल जी की ही तूती बोलती रही है, भविष्य का पता नहीं। इस भावात्मक शैली में लिखे गए आपके निबन्धों को पढ़ कर हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी होने लगती है। इन भावों की व्याख्या अथवा परिभाषा पढ़ते समय तो शायद इतना आनन्द साधारण पाठक न ले सके, किन्तु इन की विवेचना में आए उदाहरणों को पढ़ कर वह अवश्य सरसता का अनुभव कर सकेगा। परिभाषाओं को पढ़ कर आनन्द का अनुभव करने वाले भी मिल जाएँगे जिन्हें सूक्ष्म-तर्क-योजना में रुचि है।

अतः शुक्ल जी ने अपने मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों में मानव के कुछ प्रमुख भावों या मनोविकारों को ले कर, प्रत्येक मनोविकार को समाज की कसौटी पर कसा है। मनुष्य के व्यवहार से इन का सम्बन्ध स्पष्ट किया है। इन मनोविकारों का समाज के लिए शुभ अथवा अशुभ परिणाम बता कर उन्हें अच्छा या बुरा कहा है। 'करुणा' को मानव-प्रकृति में शील और सात्त्विकता का संस्थापक बता कर समाज के लिए उसे अनिवार्य घोषित किया है और 'ईर्ष्या' को सामाजिक कृत्रिमता से उत्पन्न एक "विष" कह कर समाज के लिए उस की अनुपयोगिता सिद्ध कर दी है। शुक्ल जी अपनी आलोचना-शैली में समाज-कल्याण को सदा साथ ले कर चले हैं। इन भावों का आधार भी समाज को बनाकर उन्हों ने इन की विवेचना की है।

इन तीन मुख्य शैलियों के अतिरिक्त शुक्ल जी की कुछ ऐसी सामान्य-विशेषताएँ और भी मिलती हैं जो अवसर पाते ही यथास्थान उभर आती हैं। शुक्ल जी की शैली में गम्भीर विवेचन के साथ मीठी चुटकियाँ भी मिलती हैं। ये मीठी

चुटकियाँ प्रभाव में व्यंग्योक्तियों से कम नहीं होतीं। आप मुहावरों का प्रयोग प्रायः कम ही करते हैं। "ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है", जैसा कोई मुहावरा अथवा लोकोक्ति कभी कहीं मिल जाती है। गम्भीर आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक निवन्धों में तो इन का प्रश्न ही नहीं उठता। मनोविकार-सम्वन्धी निवन्धों में शुक्ल जी की व्यंग्य-हास शैली उभर कर आई है। इसके अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। किन्तु आपके इस व्यंग्य-हास में अशिष्टता नहीं आती। वे अत्यन्त शिष्ट और कलापूर्ण ढंग से व्यंग्य करते हैं। व्यंग्य करने का यह ढंग भी आप का अपना है। शुक्ल जी के व्यंग्य-मानस पर तीखी चोट भी करते हैं और साथ ही हास्य का मरहम भी लगाते चलते हैं।

"लोभ और प्रीति" नामक निवन्ध में वे कहते हैं कि "लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकने वाले की वृद्धि हुई। जव एक ही को चाहने वाले वहुत से हो गए तव एक की चाह को दूसरे कहाँ पसन्द करते ? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सव पत्थर के हो गए, धीरे धीरे यह दशा आई कि जो वातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं, वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आज कल तो वहुत सी वातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राज-सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिस के पास रुपया है, वड़े-वड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं.......... राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म—सव पर सोने का पानी फिर गया। सव टका-धर्म हो गए" यहाँ आज के वस्तुवादी युग में पैसे के पीछे जो दौड़ लगी हुई है, उस की ओर शुक्ल जी व्यंग्यात्मक

संकेत कर रहे हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु का मानदंड पैसा वन चुका है। यहाँ इस वणिग्-धर्म के प्रति शुक्ल जी का क्षोभ स्पष्ट रूप में प्रकट हो रहा है।

प्रेम में त्याग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि प्रेम में त्याग-भावना का होना आवश्यक है। रसखान ब्रज-भूमि के प्रेम के लिए तीनों लोकों का राज्य कृष्ण को लकुटी और कामरिया पर न्योछावर करने को तैयार हो गए थे, किन्तु आज के युग में जो लोग देश-प्रेम की दुहाई तो देते हैं परन्तु त्याग करने की अपेक्षा दूसरों का गला घोंटते हैं, ऐसे व्यक्तियों पर व्यंग्य करते हुए आप लिखते हैं :—"मोटे आदमियो! तुम ज़रा सा दुबले हो जाते, अपने अन्देशे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।"

रीतिकालीन कवियों को छिछली भावुकता और विलास-प्रियता के शुक्ल जी कट्टर विरोधी थे और इसी की ओर व्यंग करते हुए वे उन की भर्त्सना कर रहे हैं :—

"हिन्दी के रीति-काल के कवि तो मानों राजाओं, महा-राजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुख में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरी प्रकार के कविराज कान में मकरध्वजरस की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गर्मी के मौसम के लिए एक कवि जी व्यवस्था करते हैं"—

"सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।"

भारतीय साहित्य में रस-सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आप किस व्यंग्यात्म ढंग से पश्चिम के काव्यगत व्यक्ति-वैचित्र्य-

वाद की भर्त्सना करते हैं, यह उन के निबन्ध "साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद" में दर्शनीय है। पश्चिम की नूतन-सृष्टि-निर्माणवादी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं :—" यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसी लिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों-हज़ारों क्या लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं, तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाए। व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा उपरि कुतूहलमात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाए। हुआ भी यही। और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत से लोग एक एक काल्पनिक हृदय निर्मित कर के दिखाने लगे। पाश्चात्य-काव्य में साधारणीकरण के सिद्धान्त को व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण के कारण कोई स्थान नहीं दिया गया। शुक्ल जी को यह मान्य नहीं था।

इस प्रकार व्यंग्य शुक्ल जी की सभी प्रकार की शैलियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। इसी ओर संकेत करते हुए डा० राम-विलास शर्मा अपनी पुस्तक, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना" में लिखते हैं :—"शुक्ल जी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य-प्रेमी हैं। उन की तर्क-योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं। उन में भारतेन्दुयुग की ज़िन्दादिली है, उस युग के लेखकों जैसा व्यंग्य-विनोद है। व्यंग्य हमेशा विनोद के लिए नहीं होता। कहीं-कहीं उन का व्यंग्य क्रोधाग्नि में तपे हुए तीर की तरह होता है। लोभियों के लिए कहते हैं, "न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।" ऐसा तीखा व्यंग्य या तो प्रेम

चन्द में मिलता है या निराला में। ऐसे तीर जब-तब ही निकलते हैं।

शुक्ल जी अपनी शैली में विनोद या हास्य साधारण मनोरंजन के लिए करते हैं। इस से विषय की गम्भीरता और जटिलता में कुछ रस के छींटें भी पड़ जाते हैं। एक उदाहरण "लज्जा और ग्लानि" से प्रस्तुत करते हैं:—"एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह है कि एक बेवकूफ़ी करने में लोग संकोच नहीं करते, और सब बातों में करते हैं।" इस प्रकार कहीं वे वैर को "क्रोध का अचार या मुरब्बा" बताते हैं, और कहीं मूर्खों को "हास्य रस का बड़ा प्राचीन आलम्बन बताते हैं" और कहीं शुक्ल जी के मतानुसार, "क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता।" कभी उन्हें "लोभियों का दमन योगियों से किसी प्रकार कम नहीं लगता।" मनोविकारों अथवा भावों पर लिखे शुक्ल जी के निबन्ध उन की हास-विनोद शैली के ज्वलंत उदाहरण हैं। विषय कितना ही गम्भीर क्यों न हो, शुक्ल जी अपनी इसी हास-विनोद-शैली से पाठक को निबन्ध की गति के साथ-साथ हँसाते चलते हैं। यह शुक्ल जी की शैली की अपूर्व विशेषता है।

शुक्ल जी की शैली में उन के व्यक्तिगत-जीवन के संकेत भी कहीं कहीं मिल जाते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में वे एक घुमक्कड़ और विनोदी-व्यक्ति के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इन शब्दों का वर्णन हम पहले भी कर आए हैं, पर प्रसंग वश यहाँ भी कर रहे हैं:-"मैं ने पहाड़ों और जंगलों में घूमते समय साधुओं को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था।" "एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का

भ्रम कर चुका था।" और उन का यह भ्रम म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से टूटा था। एक बार वे सांची का स्तूप देखने गए और वहां महुओं की सुगन्ध पर मोहित हो गए जिस के कारण उन के लखनवी मित्र 'महुए' का नाम सुन कर खीज उठे थे क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं महुए का नाम सुन कर लोग उन्हें 'देहाती' न समझ बैठें। उन्हों ने एक ब्राह्मण देवता को चूल्हा फूंकते देखा था और आग न जलने पर ब्राह्मण को चूल्हे में पानी डालते देख कर आनन्द का अनुभव किया था। बूढ़ों को 'सीताराम' और 'करेला' कह कर चिढ़ाने वाले लड़कों के समूह से भी आनन्दानुभूति की थी। ये सब बातें जो यत्र-तत्र उन के लेखों में बिखरी पड़ी हैं उन के विनोदी स्वभाव, मानव-प्रेम और उन की सहृदयता का परिचय देती हैं।

शुक्ल जी की शैली कवियों के काव्य को यथार्थवाद की कसौटी पर कस कर उस की विवेचना करती है। डा० राम-विलास शर्मा के शब्दों में :—"शुक्ल जी में कुछ बातें डाक्टर जॉनसन की सी हैं। दोनों ही लेखक सहज-बुद्धि (कॉमनसेंस) की ज़मीन नहीं छोड़ना चाहते। शुक्ल जी यथार्थवाद की कसौटी पर कभी-कभी साहित्य को इस तरह परखते हैं कि अद्भुत रस की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति को अबलामय देखने वाले कवियों को लक्ष्य कर के आचार्य जी कहते हैं" :—"आजकल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघ-माला को दाढ़ी-मूँछ के रूप में देखना चाहिए।" (यह उक्ति पहले भी दी गई है, पर उन के शैली-विवेचन प्रकरण में भी खूब फबती है।)

'अभिव्यक्ति के प्रकार' को हम शैली कह आए हैं और यह

अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही संभव होती है। अतः शैली में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब हम शुक्ल जी की भाषा के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

शुक्ल जी, भाषा के क्षेत्र में विशुद्धता के हामी थे। उन की भाषा संस्कृत-बहुला है। उन की भाषा अत्यंत सुगठित है। लेखक को उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। शुक्ल जी की भाषा जब गम्भीर विषयों का विवेचन करने लगती है तो क्लिष्टता का जामा पहन लेती है। आप ने अपने गम्भीर तथा आलोचनात्मक निबन्धों में इसी विशुद्ध भाषा का प्रयोग किया है। यही कारण है कि उन्हें आलोचनात्मक भाषा का जन्मदाता कहा जाता है। समीक्षा-साहित्य में आप की-सी प्रौढ़ और सशक्त भाषा की आवश्यकता थी, और उस अभाव की पूर्ति आप ने कर दी। गवेषणात्मक निबन्धों में आ कर तो यह बहुत दुरूह जान पड़ती है। भाषा की यह क्लिष्टता उन के भावों अथवा मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों में प्रायः नहीं मिलती। इन निबन्धों की भाषा प्रायः सरल ही है जिस के फलस्वरूप ये निबंध बड़े रोचक हो गए हैं।

भाषा में उन की वाक्य-रचना अत्यंत सारगर्भित है। शुक्ल जी की भाषा के सामान्य-प्रवाह में ऐसे वाक्य आ जाते हैं जो पाठकों पर असाधारण प्रभाव डालते हैं। स्थायी-प्रभाव डालने वाले वे वाक्य लेखक के अनुभवी एवं चिन्तनशील जीवन का सार होते हैं। "जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि हम बड़े संकोची हैं, उन में संकोच कहाँ", "प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।" ऐसे अनेक वाक्य शुक्ल जी के लेखों में भरे पड़े हैं। आप का वाक्य-विन्यास इतना सुगठित और सुव्यवस्थित है कि उस में से एक भी शब्द इधर-उधर नहीं किया जा सकता।

वीच का कोई शब्द हटाया नहीं कि ऐसा करने से वाक्य का सारा चमत्कार जाता रहता है। प्रत्येक वाक्य अपने में पूर्ण है। एक भी शब्द निकालने से वाक्यमाला अधूरी दिखाई देने लगती है।

आप ने अपनी भाषा में तत्सम शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। किन्तु तद्भव शब्दों को तो वे वेधड़क हो कर अपनी भाषा में ले आते हैं। आलोचना के क्षेत्र में वे तत्सम शब्दावली से काम लेते हैं, किन्तु निवन्धों में, विशेषकर मनोविकार-सम्वन्धी निवन्धों में तद्भव शब्दों का वाहुल्य मिलता है। वोल-चाल के लोक-प्रचलित-'भंडार', 'मुरव्वा', 'अचार' आदि शब्दों का प्रयोग भी वे खूव करते हैं, फ़ारसी-उर्दू के शब्दों "खव्त-उल-हवास", आदि का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। कहीं-कहीं तो एक ही वाक्य में दो-तीन शब्द उर्दू के ही आ गए हैं :—"किशोरी लाल गोस्वामी के लिए आप लिखते हैं कि, "खेरियत यह हुई कि अपने सव उपन्यासों को आप ने यह मंगनी का लिवास नहीं पहनाया।" "अलवत्ता" शब्द का प्रयोग तो शुक्ल जी वड़े चाव से करते हैं। आप का अंग्रेज़ी का अध्ययन भी विस्तृत था। आप ने कई शब्द अपनी भाषा में अंग्रेजी के तौल पर गढ़े हैं। इस के अतिरिक्त कतिपय मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी मिल जाती है। आप ने यह सव कुछ अपनी भाषा को वोधगम्य और अधिक प्रभावोत्पादक वनाने के लिए किया है। उन की भाषा में यथास्थान तीनों गुणों – माधुर्य, ओज, प्रसाद –का सुन्दर सामजस्य हुआ है।

शुक्ल जी की भाषा उन के व्यक्तित्व की ही भाँति वहु-रूपिणी है। वह विषय और भाव के अनुसार ही अपना रूप वना लेती है। कुछ उदाहरणों से यह वात स्पष्ट हो जाएगी।

"सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती

हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है, और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उस के कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति के कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है ; दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है और दूसरे में व्यक्ति।" यहाँ शुक्ल जी एक अध्यापक की भाँति श्रद्धा और प्रेम का अन्तर समझा रहे हैं। उन के द्वारा प्रयुक्त "सारांश यह" इस बात का परिचायक है। हास्य की उत्पत्ति के लिए उन्होंने कुछ ऐसी शब्द-योजना बनाई है कि आप से आप हँसी आने लगती है :–"संगीत के पेंच-पाँच देखकर ही हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ-अंगुल मुँह फैलाता है और "आ-आ" कर के विकल होता है, उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुप चाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था, वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़ कर केवल स्वरग्राम की लम्बी चौड़ी कवायद हो गया।" यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जाती है—वह है भाषा की चित्रमयता। आप ने उपर्युक्त पंक्तियों में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिन से न केवल हास्य की उत्पत्ति होती है, वरन् किसी पक्के रागी का मुँह फैलाए हुए दृश्य भी उपस्थित हो जाता है।

"भक्ति का स्थान मानव-हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उस का प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य को श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके हैं, उन्हीं को परमात्मा में अत्यन्त विपद रूप में देख कर ही उस का मन खिचता है, और वह उस विशद-रूप-विशिष्ट का सामीप्य चाहता है। उस के हृदय में जो सौन्दर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का

भाव है, जो शक्ति का भाव है, उसे वह अत्यन्त पूर्ण रूप में परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उस का हृदय गद्‌गद्‌ हो जाता है और उस का धर्म-पथ आनन्द से जगमगा उठता है। धर्म-क्षेत्र या व्यवहार-पथ में वह अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख एक हिन्दू के हृदय की सारी शुभ और आनन्दमयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं, उस के प्रेम-श्रद्धा आदि को बड़ा भारी अवलम्ब मिल जाता है, उस के सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य, और बल का संचार हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के द्वारा शुक्ल जी पाठक को भक्ति की महिमा, उस का निवास-स्थान और उस की प्राप्ति का मार्ग बता रहे हैं। विषय कितना गम्भीर है! परन्तु भाषा उस का पूर्ण साथ दे रही है। कतिपय साधना-सम्बन्धी शब्द विषय के अनुसार ही गम्भीर और जटिल हैं।

एक उदाहरण और लेते हैं जहाँ आप की भाषा ने काव्या-त्मक रूप धारण किया है। देश-प्रेम की वृद्धि के लिए देश के कण-कण से परिचय प्राप्त करो। शुक्ल जो बोल रहे हैं :— "परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उन में घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें, उन से दो-दो बातें करो, उन के साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ

जाओ, और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का स्वरूप तुम्हारी आँखों में समा जाएगा, तुम उस के अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अन्तः करण में इस इच्छा का उदय होगा, कि वह हम से कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फूला-फला रहे, उस के धन-धान्य की वृद्धि हो, उस के सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्त्तमान प्रेम-सूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिस से ये सब नाम तुम्हारे प्यारे हो जाएँ। इन के नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।" इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी की भाषा पग-पग पर आप के विचारों और विषय के अनुरूप परिवर्तित होती चलती है। आप का इस पर इतना अधिकार है कि वे जिस ओर जब चाहें, इस का मुख मोड़ सकते हैं।

अतः शुक्ल जी की भाषा-शैली के इस विवेचन के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आप की शैली उन के बहुपक्षी व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। उन का व्यक्तित्व अनेक पक्षीय है। यही कारण है कि उन की शैली को इतनी विविधता प्राप्त हुई है। सुन्दर शब्द-चयन, अनुपम वाक्य-विन्यास, भाषा पर पूर्ण अधिकार, ओज-प्रसाद और माधुर्य का अपूर्व मिश्रण, हास्य-विनोद और तीखे व्यंग्य, व्यक्तित्व जीवन का परिचय— ये सभी मिल कर आप की शैली का निर्माण करते हैं। कुछ लोग शुक्ल जी को दुरूह और क्लिष्ट मान कर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। इस के लिए हम कह सकते हैं, कि केवल गवेषणात्मक लेखों में विषय की कठिनता और समास-शैली के प्रयोग के कारण यह क्लिष्टता आ गई है। ऐसा प्रायः हर स्थान पर नहीं होता।

आप तो यथास्थान पाठकों के साथ विनोद करते चलते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हृदय, मस्तिष्क और जीवन, तीनों का समावेश शुक्ल जी की भावात्मक, समीक्षात्मक और गवेषणात्मक शैली में हो गया है।

आधुनिक समीक्षा-शैली के आप जन्मदाता हैं, इसी से हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में आप का महत्त्व जागरूक है।

— — — —

# "काव्य में लोक-मंगल और आनन्द की साधना का सिद्धान्त

आचार्य शुक्ल जी काव्य में लोक-मंगल और आनन्द की साधना के सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। वे ज्ञानी और भावुक के दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ज्ञानी आत्म-बोध और जगद्बोध के बीच गहरा अन्तर मानता है किन्तु भावुक की दृष्टि दोनों पर समान रूप से पड़ती है, दोनों को एक ही मान कर चलती है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान की अपेक्षा भावना का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। भावना की इसी व्यापकता के कारण मनुष्य को इस व्यापक एवं विस्तृत जगत् के भीतर एक आनन्द एवं कल्याणमयी शक्ति की अनुभूति होती रही है। इसी मंगलमय स्वरूप की चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई है। संसार के बीच, नर में नारायणत्व की भावना की अभिव्यक्ति विभिन्न धर्मों ने विभिन्न प्रकार से की है। ईसाइयों ने नर को नारायण की "प्रतिमूर्ति" कहा है। किन्तु भारतीय भक्ति-मार्ग इस से बहुत आगे बढ़ गया है। उस ने संसार भर के नर में नारायण के दर्शन किए और ईश्वर के प्रति हृदय का जितना मार्मिक और पूर्ण निवेदन भारतीय-भक्ति-मार्ग में परिलक्षित होता है, अन्यत्र दुर्लभ है। लोक-मगल-भावना की दृष्टि से यह अधिक श्रेयस्कर है।

सत्, चित् और आनन्द-ब्रह्म के ये तीन स्वरूप हैं। इन तीनों

में से काव्य और भक्तिमार्ग ब्रह्म के आनन्दस्वरूप को ले कर चलते हैं। लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति दो अवस्थाओं में होती है:—पहली अवस्था साधनावस्था कहलाती है और दूसरी सिद्धावस्था। ब्रह्म का यह आनन्द स्वरूप लोक में सदा एक सा नहीं रहता। उस का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। प्रातः का आनन्दमय सुनहला प्रभात रात्रि के गहन अन्धकार को चीर कर व्यक्त होता है। प्रातः प्रफल्लित दिखाई देने वाला कमल पहले शिशिर की भयंकर रात्रि के आतंक को सहन करता है। यही क्रम लोक के भीतर भी घटित होता दिखाई देता है। इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अत्याचार और अन्याय के बीच दबी हुई आनन्द की ज्योति, भीषण शक्ति में परिणत हो कर अपना मार्ग निकालती है, और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है। जिन बाधा, पीड़ा आदि को फोड़ कर आनन्द की ज्योति निकलती है, वह सब, लोक-मंगल और आनन्द की साधनावस्था कहलाती है।

ऊपर जो आन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ बताई गई हैं, उन में से, कुछ कवि अथवा भक्त लोग सिद्धावस्था की ओर आकृष्ट होते हैं और कुछ साधनावस्था की ओर। सिद्धावस्था में कुछ कवि या भक्त आनन्द के सिद्ध-स्वरूप को ले कर केवल सुख, सौंदर्य, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेमव्यापार आदि की ओर अग्रसर होते हैं, और कुछ कवि अथवा भक्त आनन्द-मंगल की साधनावस्था पर दृष्टि रखने के कारण, पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में व्यस्त शक्तियों को सचारित करने वाले, उत्साह, क्रोध, करुणा, घृणा, भय आदि भावों में सौंदर्य देखते है। आनन्द की साधनावस्था को प्रयत्न-पक्ष और सिद्धावस्था को उपभोग-पक्ष भी कहते हैं।

साधनावस्था पर दृष्टि रखने वाले कवि जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देख कर उस पर मुग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार फैलने से पूर्व, प्रकाश का अंधकार को हटाना देख कर भी आनन्दित होते हैं। शुक्ल जी साधनावस्था पर ध्यान रखने वाले कवियों को ही 'पूर्णकवि' मानते हैं क्योंकि उन का लक्ष्य जीवन की अनेक परिस्थितियों में सौंदर्य-दर्शन रहता है। साधानावस्था या प्रयत्न-पक्ष को ले कर चलने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिन का मन सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष की ओर जाता ही नहीं। वीर रस के कवि भूषण ऐसे ही कवि थे। इसी प्रकार कुछ कवि ऐसे भी होते हैं, जो आनन्द केवल सिद्ध-स्वरूप में ही अपनी मनोवृत्ति जमा सकते हैं। उन का मन सदा ही सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा आदि की भावना में ही रमता है। प्रयत्न-पक्ष की ओर उन का ध्यान कम ही जाता है। सिद्धावस्था की प्राप्ति के लिए साधनावस्था का पहले होना आवश्यक है। सिद्ध के लिए प्रयत्न-पक्ष नितान्त अपेक्षित है। साधनावस्था अनेक प्रकार के चीत्कार, अत्याचार और अन्याय से आरम्भ होती है जो अधिकांश कवियों को आशावादी बना कर उन की वृत्ति को इस साधनावस्था में रमा देती है। क्रूर रावण के अत्याचारी रूप को देख कर ही राम के कल्याणकारी रूप का महत्त्व जाना जा सकता है।

आनन्द-मंगल की अभिव्यक्ति की पूर्व-वर्णित दो अवस्थाओं के आधार पर ही शुक्ल जी काव्यों के दो विभाग करते हैं:—

(१) आनन्द की साधनावस्था अथवा प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था अथवा उपभोग को ले कर चलने वाले काव्य।

आनन्द की साधनावस्था को ले कर चलने वाले काव्यों के अन्तर्गत शुक्ल जी "रामायण", "महाभारत", "रघुवंश", "शिशुपालवध", "किरातार्जुनीय" (हिन्दी में) "रामचरितमानस" "पद्मावत" का उत्तरार्द्ध, "हम्मीररासो", "पृथ्वीराजरासो", "छत्रप्रकाश", आदि प्रबन्धकाव्य ; भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत। उर्दू के वीररसात्मक मरसिये। योरोपीय भाषाओं में "इलियड", "ओडेसी", "पैराडाइज़ लॉस्ट", "रिवोल्ट ऑफ़ इस्लाम" इत्यादि प्रबन्ध-काव्य तथा पुराने बैलड को लेते हैं। और आनन्द की सिद्धावस्था को ले कर चलने वाले काव्यों के उदाहरण इस प्रकार देते हैं:—"आर्यासप्तशती", "गाथासप्तशती", "अमरशतक", "गीत-गोविन्द", तथा शृङ्गाररस के फुटकल पद्य। हिन्दी में "सूरसागर", कृष्ण भक्त कवियों की पदावली, "बिहारी-सतसई", रीतिकाल के कवियों के फुटकल पद्य, "रास-पंचाध्यायी" ऐसे वर्णात्मक काव्य तथा आज कल की अधिकाँश छायावादी कविताएँ। फ़ारसी-उर्दू के शेर और गज़लें। अंग्रेजी की लिरिक कविताएँ (Lyrics) तथा नई प्रकार की वर्णात्मक कविताएँ।

आचार्य शुक्ल जी वाट्स-डंटन (Watts-Dunton) के "शक्ति काव्य" को प्रथम प्रकार के (प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले) काव्य के अन्तर्गत मानते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार डंटन के "शक्ति-काव्य" (Poetry as Energy) में लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाला प्रभाव पाया जाता है जिस में श्रोता अथवा पाठक के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। अतः शुक्ल जी डंटन की प्रशंसा करते हैं जब वह काव्य को "शक्ति" मानता है, परन्तु वे उस की

कटु आलोचना करते हैं जब वह काव्य को 'कला' कह कर केवल मनोरंजन को उस का उद्देश्य बताता है। शुक्ल जी को डंटन का कला-काव्य (Poetry as an Art) पसन्द नहीं। शुक्ल जी काव्य में कला के विरोधी नहीं हैं, परन्तु वे शुद्ध और केवल कला को भी स्वीकार नहीं करते। उन की धारणा है कि कलात्मक दृष्टि तो दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित होती है। साधनावस्था अथवा प्रयत्न-पक्ष को ले कर चलने वाले काव्यों में भी यदि कला की पूर्णता में कोई कमी रह जाए, तो उन के द्वारा लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करने वाले स्थायी प्रभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इस के अतिरिक्त, उन के द्वारा साधारणीकरण, जो काव्य-शास्त्रानुसार पूर्ण रसानुभूति के लिए आवश्यक समझा जाता है, नहीं हो सकेगा। शुक्ल जी का कथन है कि यदि कला का प्रयोग एक आवश्यक सीमा तक काव्य में किया जाए तो वह काव्य-सौन्दय का विधायक अवश्य है, किन्तु यदि कला का अर्थ केवल मनोरंजन अथवा विलास-सामग्री का विधायक है तो वह काव्य के लिए अनिष्टकारी ही सिद्ध होगा। योरोपीय-काव्य में कला का यह खिलवाड़ इतना अधिक हुआ कि इस ने काव्य-दृष्टि को संकुचित सीमाओं में बन्द कर दिया।

आनन्द की साधनावस्था की विशद विवेचना करते हुए शुक्ल जी कहते हैं, "लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्द-कला जो शक्तिमय रूप धारण करती हैं, उस की भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्म-क्षेत्र का सौन्दर्य है, जिस की ओर आकृष्ट हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जब-जब संसार में दुःख की घटा छाती

है, तब-तब संसार की रक्षा के लिए ब्रह्म के आनन्दमय रूप की एक शक्ति की अवतारणा होती है जिस के द्वारा संसार में फैले हुए दुःख का आवरण हटाया जाता है। ब्रह्म का यह आनन्द-स्वरूप विरोधी-तत्त्वों के सामंजस्य को लेकर प्रस्फुटित होता है, जिस से कर्म-क्षेत्र के सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इस शक्ति में भीषणता के साथ मनोहरता और मधुरता के साथ प्रचण्डता मिली रहती है, जिस की ओर मानवहृदय स्वयं खिंचा चला जाता है। विरोधी-तत्त्वों का यह सामंजस्य अन्य कई रूपों में भी देखने को मिलता है। किसी कोट-पतलून वाले व्यक्ति को जब हम धाराप्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पंडित-वेशधारी व्यक्ति को बड़ी तेज़ी से अंग्रेज़ी बोलते देखते हैं तो उन के व्यक्तित्व का जो चमत्कार हमें उस समय प्रतीत होता है, उस चमत्कार के पीछे भी सामंजस्य का अपूर्व सौन्दर्य ही निहित रहता है। इस प्रकार शुक्ल जी के मतानुसार विरोधी-तत्त्वों का सामंजस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है। प्रचण्डता और मृदुता, कटुता और मधुरता, कोमलता और कठोरता के योग से ही संसार में धर्म की सुन्दरता प्रस्फुटित होती है। आदिकवि वाल्मीकि ने अपने काव्य में इसी सौन्दर्य का उद्‌घाटन किया है। सौन्दर्य का उद्‌घाटन असौन्दर्य का आवरण हटा कर होता है, धर्म और मंगल की यह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इसी लिए हमारे यहाँ सुखान्त-काव्य लिखने की प्रथा रही है। कवि हमारे सामने असौन्दर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश आदि भी रखता है। ध्वंस और हाहाकार के दृश्य भी लाता है, परन्तु उस के सभी रूपों, भावों और व्यापारों का आन्तरिक लक्ष्य आनन्द-कला का विकास ही होता है। कवि अधर्म और अत्याचार का दृश्य दिखा कर अन्त में धर्म की

विजय दिखाता है। व्यास जी ने भी अपने "जयकाव्य" में अधर्म के पराभव और धर्म की विजय का सौन्दर्य प्रकट किया है।

आचार्य शुक्ल जी धर्म की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि, "वह व्यवस्था या वृत्ति, जिस से लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सृष्टि होती है, धर्म है।" इस लिए "अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्म-वृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है।" यह गति जब सफल हो तो धर्म की जय कहलाती है। इस गति में भी सौंदर्य है और इस की सफलता भी सौंदर्य की परिचायक है। शुक्ल जी का कथन है कि इस गति में तो सौंदर्य रहता ही है, चाहे यह सफल हो अथवा विफल। इस की विफलता में भी एक प्रकार का सौंदर्य परिलक्षित होता है। तात्पर्य यह कि यह गति आरम्भ से अन्त तक सुन्दर होती है, अन्त में चाहे सफलता हाथ लगे या विफलता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान् को पूर्ण कला का दर्शन कराने के विचार से ही धर्म की गति का सौंदर्य प्रकट करते हुए उस का अन्त सफलता में दिखाया है। यदि राम द्वारा रावण का वध न दिखाया जाता, तो भी राम की गति-विधि में पूरा सौंदर्य रहता, परन्तु राम में भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता, क्योंकि भगवान् की शक्ति तो अमोघ होती है। परन्तु ऐसे भी अनेक कवि हुए हैं जिन्हों ने आनन्द-कला की ज्योति की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौंदर्य का अनुभव किया है। पश्चिम के कवि शेली (Shelley) लोक में व्याप्त अन्याय, अत्याचार और पाखण्ड के दमन तथा विश्व-व्यापी भ्रातृ-प्रेम का स्वप्न देखने वाले कवि थे। उन्हों ने अपनी कविता "इस्लाम का विप्लव" (Revolt of Islam) में धर्म-गति

और अधर्म-गति का संघर्ष दिखा कर अन्त में धर्म-गति की असफलता प्रदर्शित की है। कविता के नायक और नायिका (Laon and Cythna) लोक-कल्याण भावना में तत्पर हैं। कवि ने उन में मंगल-शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखा कर, और उन के द्वारा भीषण अत्याचार की पराजय का सुन्दर आभास देकर अन्त में उस मंगल-शक्ति की विफलता दिखा दी है।

इस प्रकार लोक-कल्याण-भावना से प्रेरित हो कर अनेक कवि कल्याणकारी - अकल्याणकारी शक्ति का संघर्ष दिखा कर अन्त में कल्याणकारी शक्ति की विजय दिखा देते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार ऐसे कवियों को शिक्षक या उपदेशक नहीं समझना चाहिए। उन के काव्य में अस्वाभाविकता की गन्ध तो तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा। अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र विजयी और दुष्ट पात्र परास्त होता जाएगा। परन्तु सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। कवि जानता है कि इस संसार में अधर्म प्रायः दुर्दमनीय होता है। धर्म की शक्ति उस के सामने बार-बार उभर कर फिर बैठ जाती है। वह बार-बार सामने आ कर फिर व्यर्थ हो जाती है, चाहे अन्त में उस की विजय ही होती है। सच्चा कवि इसी लोक-प्रवृत्ति के आधार पर अपने काव्य में धर्म की शक्ति को अधर्म के सामने बराबर उठता और व्यर्थ होता दिखाता है। कवि, जहाँ मंगल-शक्ति की सफलता दिखाता है, वहाँ वह कला की दृष्टि से कर्म-सौंदर्य का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए ही ऐसा करता है, किसी धर्म-शासक के रूप में डराने के लिए नहीं कि, यदि बुरा काम करोगे तो बुरा फल पाओगे। कवि तो कर्म-सौंदर्य के प्रभाव को दिखा कर अन्तःकरण में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति उत्पन्न करता है, उस का काम उपदेश देना कदापि नहीं होता।

कवि सदा सौंदर्य से प्रभावित होता आया है । स्वयं इस से प्रभावित हो कर दूसरे व्यक्तियों को भी प्रभावित करना चाहता है । उस की कल्पना में अनेक प्रकार के सौंदर्य आ कर घर कर लेते हैं और वह सौंदर्यों के इस भव्य मिश्रण को पाठकों के सामने रख देता है । राम और कृष्ण में कर्म-सौंदर्य एवं रूप-सौंदर्य का संगम मिलता है । मानव-हृदय कर्म-सौंदर्य के साथ रूप-सौंदर्य को देख कर अधिक प्रभावित होता है । वह शुक्ल जी के मतानुसार, "आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है ।" भारतीय काव्य-शास्त्र में नायकों के अनेक रूप बताए गए हैं जिन में नायक का धीरोदात्त रूप उत्तम माना गया है । धीरोदात्त नायक में आन्तरिक और बाह्य सौंदर्य का सामंजस्य होता है । भारतीय-हृदय उस की रूप-सौंदर्य एवं कर्म-सौंदर्य सम्बन्धी विशेषताओं के प्रति उदासीन नहीं हो सकता क्योंकि इन से उस के हृदय की एक वासना की तुष्टि होती है ।

परम्परागत मान्यताओं एवं भावनाओं का सहसा परित्याग कर के उन्हें नितान्त नवीन रूप देना संभव नहीं होता । कारण कि मानव इस नितान्त-परिवर्तन के लिए तैयार नही होता । उस के हृदय में परम्परा के प्रति जो संस्कार बैठ जाते हैं, उन्हें एकदम नवीन रूप मान्य नहीं होता । शुक्ल जी के मतानुसार "आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को, और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को न देते बनेगी ।" माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने काव्य में मेघनाद को रूप-गुण-सम्पन्न नायक दिखाया है, परन्तु लक्ष्मण को वे कुरूप न बना सके, कारण कि लक्ष्मण परम्परा से रूपवान् माना जाता है । कवि ने मेघनाद के चरित्र में जो उलट-फेर किया है, वह किसी कला

अथवा काव्यानुभूति की प्रेरणा से नहीं, वरन् केवल नवीनता लाने की धुन ने उन से ऐसा करवाया है। आचार्य जी के मतानुसार यह पश्चिम के प्रभावस्वरूप हुआ। इसी प्रकार बंगभाषा के कवि नवीनचन्द्र ने भी अपने काव्य "कुरुक्षेत्र" में कृष्ण के परम्परागत आदर्श को ही बदल दिया है। किसी सामयिक प्रवृत्ति की झोंक में आ कर प्राचीन निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों को मनमाना नवीन रूप दे देना, शुक्ल जी की दृष्टि में "भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।" परन्तु इस से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन आख्यानों तथा पात्रों में मर्मानुभूति की नवीनताएं आ ही नहीं सकती। कुशल कवि प्राचीन पात्रों तथा घटनाओं में नवीन उद्भावनाएं प्रस्तुत करते आए है और आज भी करते हैं, किन्तु उन की कुशलता इसी बात में है कि उन की नवीन उद्भावनाएँ इन पात्रों के चिर-प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। आचार्य जी की धारणा है कि जब सामयिक नवीन परिस्थितियों के आधार पर नवीन पात्रों एव आख्यानों की उद्भावना सरलता से हो सकती है तो नवीनता का यह आरोप प्राचीन आदर्शों पर कर के उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करना व्यर्थ है।

शुक्ल जी काव्य में कर्म-सौंदर्य के केवल एक पक्ष के पक्षपाती नहीं हैं। टॉल्सटाय ने केवल प्रेम और भ्रातृ-प्रेम के प्रदर्शन और आचरण में ही काव्य का उत्कर्ष माना जो शुक्ल जी को स्वीकार नही। वे इसे एक देशीय घोषित करते हैं। मानव हृदय के दोनों पक्षों—कोमल एवं कठोर—का विधान ही कर्म-सौंदर्य का उत्कर्ष स्थापित कर सकता है। शुक्ल जी के शब्दों में, "मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उस के हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं,

और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" कर्म जीवन का प्रमुख अंग है। इसी से जीवन की स्थिति है। इस कर्म के भी दो स्वरूप हैं—संघर्षमय स्वरूप और शांतिमय स्वरूप, एक कठोर और दूसरा कोमल। जीवन में कठोर पक्ष की अवहेलना करके केवल कोमल स्वरूप में आनन्द खोजने वाला जीवन एक-पक्षीय जीवन होता है। इसी लिए शुक्ल जी टॉल्सटाय की कटु आलोचना करते हैं। दोनों की सहायता करने के साथ आततायियों को दण्ड देना भी आवश्यक है। केवल उपदेश से हम उन का क्रूर-कर्म बन्द नही करवा सकते और जब तक अत्याचारियों को दण्ड नहीं दिया जाएगा, तब तक समाज में आदर्श-आचरण की स्थापना होनी कठिन है।

साधनावस्था के अन्तर्गत एक ऐसा भाव रहता है जिस का सम्बन्ध आनन्द से होता है। जैसे मनुष्य के हृदय में एक भाव स्थायी रूप से रहता है, उसी प्रकार अनेक भाव संचारी रूप में उस स्थायी-भाव के साथ रहते हैं। ऐसे ही किसी प्रबन्ध-काव्य के प्रधान पात्र में कोई मूल प्रेरक भाव रहता है जिसे बीज-भाव भी कहते हैं। इस बीज-भाव की प्रेरणा से घटना-चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए अवसर निकलता चलता है। शुक्ल जी के मतानुसार, इस बीज-भाव को साहित्य-ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगी-भाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए। बीज-भाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर, कठोर और तीक्ष्ण दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। अब यदि बीज-भाव की प्रकृति मंगल-विधायिनी है तो उस की व्यापकता तथा चिर समान-रूपता के कारण सभी प्रेरित भाव परुष और तीक्ष्ण होने पर भी सुन्दर होते हैं। ऐसे कल्याणकारिणी प्रकृति वाले

भाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है, उस के सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति रहती है, अर्थात् पाठक या श्रोता भी रस-रूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की व्यंजना वह प्रधान पात्र करता है। परन्तु एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि उस प्रधान-पात्र की गति में बाधा डालने वाले पात्रों के उग्र एवं तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों अथवा श्रोताओं का तादात्म्य नहीं होता, चाहे उन उग्र भावों की व्यंजना में रसनिष्पत्ति करने वाले अवयव वर्त्तमान ही हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की अभिव्यंजना करेंगे, तो पाठक अथवा श्रोता को भी क्रोध और घृणा की ही अनुभूति होगी, वे भी रावण के प्रति क्रोध या घृणा का ही भाव रखेंगे और उन्हें राम की रावण के प्रति व्यंजित की गई घृणा की अनुभूति से आनन्द ही मिलेगा, कारण कि राम का बीज-भाव लोक-कल्याण-विधायक है। इस के विपरीत रावण, यदि राम के प्रति घृणा या क्रोध की व्यंजना करता है, तो रस के तीनों अवयवों की विद्यमानता के कारण रस का 'शास्त्रस्थिति-सम्पादन' चाहे हो जाए, पर रावण द्वारा व्यंजित क्रोध या घृणा के साथ पाठकों का तादात्म्य नहीं हो सकेगा, वे रावण की ही भाँति राम के प्रति क्रोध या घृणा का अनुभव नहीं कर सकेंगे। ऐसी अवस्था में पाठकों की स्थिति केवल चरित्र-द्रष्टा की होगी। उस का केवल मनोरंजन होगा, भाव में लीन करने वाली रसानुभूति उसे नहीं होगी। शुक्ल जी के मतानुसार मंगल-विधायक बीज-भाव का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, बीज-भाव द्वारा प्रेरित तीक्ष्ण और उग्र भावों का सौंदर्य उतना ही अधिक होगा। यदि बीज-भाव करुणा का क्षेत्र परिवार, समाज, जाति और देश की सीमा लाँघ कर समस्त विश्व-व्यापी होगा, तो उस से प्रवर्त्तित उग्र

भावों की सुन्दरता अपनी चरम-सीमा पर होगी। यदि करुणा किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति होगी, कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी या मित्र आदि है तो उस करुणा के द्वारा प्रेरित भावों में उतनी सुन्दरता न होगी। यदि किसी काव्य में दो पात्रों का वर्णन मिलता है जिन में से एक अपने पीड़ित भाई को बचाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है और दूसरा एक विस्तृत जन-समूह की रक्षा के लिए अग्रसर है तो गति में बाधा डालने वालों के प्रति दोनों के प्रदर्शित किए गए क्रोध में से दूसरे व्यक्ति का क्रोध अपेक्षाकृत अधिक सौंदर्य-विधायक होगा क्योंकि उस के बीज-भाव का क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

भावों का विश्लेषण करने पर मंगल और कल्याण के विधायक केवल दो भाव ठहरते हैं :- करुणा और प्रेम। करुणा, रक्षा की ओर अग्रसर है और प्रेम रंजन की ओर गतिशील है। शुक्ल जी के मतानुसार जीवन में रक्षा प्रथम साध्य है और रंजन का अवसर दूसरे स्थान पर आता है। जीवन की स्थिति के लिए सर्वप्रथम उस की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है, जीवन में रंजन तभी सम्भव होता है जब जीवन को स्थिति स्थिर रहती है। अब क्योंकि साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष का लक्ष्य असौंदर्य का आवरण हटा कर सौंदर्य को स्थापना करना होता है, इस लिए साधनावस्था को ले कर चलने वाले काव्यों का बीज-भाव करुणा ही ठहरता है क्योंकि करुणा लोक-कल्याण-विधायक है। यही कारण है कि संस्कृत के महान् कवि भवमूर्ति भवभूति ने "एको रसः करुण एव" कह कर अपने दोनों नाटकों का बीज-भाव करुण ही रखा है। इन नाटकों में करुणा के बीज-भाव को धारण करने वाला लोक-रक्षक और लोक-संस्थापक राम का भव्य चरित्र है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी अपनी "रामायण"

का वीज-भाव करुणा ही माना है जिस का उदय व्याध द्वारा क्रौंच-दम्पती में से एक के मारे जाने पर वाल्मीकि द्वारा हुआ था, जव आदिकवि वाल्मीकि के शोक-विह्वल हृदय से निम्नोद्धृत पंक्तियाँ फूट पड़ी थीं :—

"मा निपाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाशवती : समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

करुणा के इस वीज-भाव का संकेत "वाल्मीकि रामायण" के आरम्भ में ही नहीं, "वालकाण्ड के १५वें सर्ग में भी उपलब्ध होता है, जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण द्वारा पीड़ित-लोक की दारुण दशा का वर्णन किया है। इस आदि-काव्य में लोक-मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति प्रवल होती है। लोक के प्रति यह करुणा सफल तभी होती है, जव लोक पीड़ा, वाधा, अन्याय और अत्याचार से विमुक्त हो जाता है। इस के पश्चात्, जव लोक में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो जाती है, तव प्रेम और रंजन की वारी आती है। उस समय प्रेम और विलास के लिए अवकाश मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि करुणा का महत्त्व प्रेम की अपेक्षा कहीं अधिक है। राक्षस-राज रावण का अन्त कर के जव लोक को अत्याचार से मुक्त कर दिया और "रामराज्य" की स्थापना हो गई, तव कहीं भगवान् राम को लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का और उस के अधिकाधिक सुख के विधान का अवकाश प्राप्त हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रेम का वीज-भाव करुणा है और करुणा ही साधनावस्था का रूप है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का उत्कर्प केवल प्रेम-भाव की कोमल-व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता, जैसा कि कुछ

कलावादी काव्यकार मानते हैं। काव्य का उत्कर्ष तो करुणा के कठोर और प्रचण्ड भावों की अभिव्यक्ति में ही होता है क्योंकि करुणा ही मूल भाव है। आचार्य शुक्ल जी का मत है कि क्रोध जैसे उग्र भावों के विधान में भी, यदि उन के पीछे करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, तो भी पूर्ण सौंदर्य का चमत्कार होता है। 'शेली' ने अपनी कविता "इस्लाम का विप्लव" में उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। उस के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, और अपनी सहनशक्ति और साधुता का प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचण्ड वेग से युद्ध-क्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले हैं, और लोक-पीड़ा तथा अत्याचार को देख कर पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमाने वाले हैं। शेली, काव्य में प्रेमभाव को मूलतत्त्व स्वीकार करते हुए भी, केवल उपभोग-पक्ष तक ही सीमित न रहे। उन्हों ने प्रबन्ध-क्षेत्र में भी प्रवेश कर के भावों को अनेकरूपता का विन्यास करते हुए अपने नायक-नायिका में पूर्ण कर्म-सौंदर्य दिखाया है।

शुक्ल जी के कथनानुसार, टॉलसटाय का केवल भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही काव्य मान लेना बहुत कुछ साम्प्रदायिकता के कारण था। टॉलसटाय के अनुगामियों ने अपने काव्य में प्रयत्न-पक्ष को लिया तो है, किन्तु एक सीमा तक, वे अधिकतर उपभोग-पक्ष को ही ले कर चले हैं। उन का प्रयत्न-पक्ष केवल पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा की दौड़-धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन आदि में ही सौंदर्य स्वीकार करता है। साधुता की इसी मृदुल गति को उन्हों ने "आध्यात्मिक शक्ति" की संज्ञा दी है। परन्तु भारतीय इसे एक प्राकृतिक-शक्ति कह कर अन्तःकरण का एक सत्त्वगुण समझते

हैं। भारतीय भी पश्चिम के कलावाद के प्रभावस्वरूप इस "आध्यात्मिक" शब्द का प्रयोग अपने काव्यों में करने लगे हैं, जो शुक्ल जी को रुचिकर नहीं है। उन के मतानुसार काव्य अथवा कला के क्षेत्र में इस "अध्यात्म" शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार शुक्ल जी "अध्यात्मवाद" को काव्य के क्षेत्र से वाहर निकालने की वात करते हैं।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण— ये तीन गुण सृष्टि के मूल में मिलते हैं। इन में सत्त्वगुण सव से अधिक महत्त्व-पूर्ण है। व्यावहारिक जीवन में 'सत्त्व' शब्द के हम दो अर्थ लेते हैं :— "सत्य" और 'शुभ'। शुक्ल जी का कथन है कि व्यापक प्रेम और करुणा दोनों सत्त्वगुण प्रधान होते हैं। इसी लिए प्रेम और करुण-भाव, जो सत्त्वगुण से अनुप्राणित हैं, काव्य में सच्चे साधारणीकरण और अपूर्व सौंदर्य का विधान कर सकते हैं। शुक्ल जी इन तीनों गुणों की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं :— "जव कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्त्व, रजस् और तमस्—तीनों गुण रहेंगे, तव समष्टिरूप में लोक के वीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्दकला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के अधीन हो कर उस के इशारे पर काम करें।" अतः शुक्ल जी के मतानुसार, संसार में पूर्ण लोक-कल्याण के लिए जिस से ब्रह्म के आनन्द का प्रकाशन हो सके, यहो पद्धति ठीक रहेगी कि संसार में सत्त्व-गुण की प्रधानता रहे और अन्य दोनों गुण—रजस् जौर तमस्— उस के शासन के नीचे रह कर कार्य करें। संसार में सत्त्वगुण ही उभर कर आए, यही वे चाहते हैं। इसो से लोक-कल्याण का विधान सम्भव है। यदि समाज में इस प्रकार की पद्धति

की स्थापना सम्भव हो तो रजस् और तमस् गुण व्यष्टि रूप में चाहे अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करते रहें, परन्तु समष्टि रूप में सब और वे सत्त्वगुण के ही लक्ष्य को पूरा करें। सत्त्वगुण से अनुशासित समाज में प्रचण्ड, उग्र और परुष भाव भी सत् की दीप्ति से दीप्त दिखाई देंगे। इसी धारणा के अनुरूप भारतीय अवतारों में कोमल और कठोर दोनों रूपों की कल्पना की गई। कहीं उन का कुसुम से कोमल रूप दिखाई देता है और कहीं वे वज्र के समान कठोर प्रतीत होते हैं।

आचार्य शुक्ल जी मूलतः नीतिवादी हैं। उन्होंने अपने काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण नैतिक दृष्टिकोण के आधार पर ही किया है। इसी नैतिक दृष्टकोण के कारण उन्हों ने काव्य में लोक-कल्याण-भावना पर इतना बल दिया है। रसवादी होने के कारण, लोक-मंगल-भावना का विधायक उन्हें केवल एक रस मिला है जिसे उन्हों ने अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, वह है करुण रस। क्योंकि करुण-भाव पर ही जीवन की रक्षा का सिद्धान्त स्थित है। इस प्रकार शुक्ल जी के काव्य-सम्बन्धी-सिद्धान्तों को उन की लोक-कल्याण-भावना के परिपार्श्व में रख कर ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसी भावना को आगे रखकर ही उन्हों ने जीवन में अनुकरणोप-युक्त राम के चरित्र को कृष्ण की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और काव्यों में तुलसी जी के चरितनायक राम की जीवन-लीला को प्रतिबिम्बित करने वाले काव्य, "रामचरित-मानस" को सूर के काव्य से अधिक महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ घोषित किया है।

शुक्ल जी के इस नीतिवादी दृष्टिकोण की कुछ सीमाएँ हैं जिन के कारण आप हिन्दी में एक विशेष प्रकार के साहित्य के

प्रति सहानुभूति न दिखा सके। इन सीमाओं का उल्लेख हम पिछले अध्यायों में बहुत कुछ कर आए हैं।

———